* मौनामृत विन्दुः *

लेखक—

श्री श्री १०८ परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय
ब्रह्मनिष्ठ दण्डि स्वामी पूज्यपाद
श्री लक्ष्मणाश्रम जी महाराज
के शिष्य ब्रह्मनिष्ठ परम-श्रोत्रिय दण्डि-स्वामी सुपुत्र-मौनी
श्री रामाश्रम जी महाराज

संशोधक—

ब्रह्मलीन प्रोफेसर शिवचन्द्र एम्.ए., एम्.ओ.एल्.

मुद्रक तथा प्रकाशक—
श्री कोकचन्द्र शास्त्री जनता प्रिन्टिङ्ग प्रेस,
वकील बाजार, हिसार

प्रथम बार १०००] सं० २०१० [मूल्य अध्यात्म विचार

पुस्तक मिलने के पते—

१— श्री कोकचन्द्र शास्त्री जनता प्रेस, हिसार

२— श्री देवेन्द्र स्वरूप ब्रह्मचारी, ऋषिकेश, देहरादून

३— कृष्णादेवी रामहृद (रामरा) कुरुक्षेत्र, पेप्सू

४— ठाकुर ज्वालासिंह, भृगुक्षेत्र (भैरियाघाट)
पोस्ट अनूपशहर, जिला बुलन्दशहर.

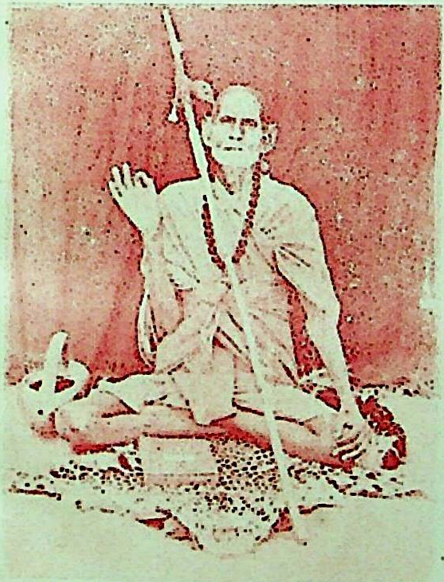
५— परिडत गजेन्द्रनाथ शर्मा, आर्यन स्टोर,
६५, विट्ठलभाई पटेल रोड, सी० पी० टेन्क, बम्बई नं० ४

चन्द्रावती

श्री श्री १०८ परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय

ब्रह्मनिष्ठ द्रविड स्वामी पूज्यपाद

श्री लक्ष्मणाश्रम जी महाराज



वसति श्री भृगुक्षेत्रे स्वामी श्री लक्ष्मणाश्रमः ।

गुरु रामाश्रमस्यायं तं वंदे विश्वरूपिणम् ॥

❀ निवेदन ❀

हमें यह ज्ञान होना चाहिये कि मौन किसको कहते हैं और कितने प्रकार के मौन हैं और कौन गौणरूप है और कौन मुख्य हैं यह सब शास्त्र प्रमाण से लिखते हैं, यथा—

चतुष्प्रकारमाहुस्त मौनं मौनविदो जनाः।
वाङ्मौनमक्षमौनं च काष्ठं सौषुप्तमेव च ॥
॥ यो० वा० ॥

मौन विद् लोगों ने चार प्रकार का बताया है वाङ् मौन इन्द्रिय मौन काष्ठ मौन और सुषुप्त मौन।

वाङ् मौनं वचसां रोधो बलादिन्द्रियनिग्रहः ॥
अक्षमौनं परित्यागात्चेष्टानां काष्ठसंज्ञकम् ।
भावे सुषुप्तमौनाख्यं जीवन्मुक्तोऽनुजीवति ॥यो०वा०॥

वाणी का निरोधक वाक् मौन है हठात इन्द्रियों को रोकना इन्द्रिय मौन है और कर्मेन्द्रियों चेष्टाओं का त्याग काष्ठ मौन है आत्मतत्त्वानुभव में जो जीवन्मुक्त निरन्तर लगा रहता है उसे सुषुप्त मौन कहते हैं। यद्यपि तीनों मौनों में मौनत्व सिद्ध है तथापि वे मलिन मन का जो दृढ निश्चय है तत्स्वरूप ही हैं इस लिये वे तीनों जीवन के बन्धन के लिए ही समर्थ हैं यह कहते हैं यथा—

वाङ् मौनं मौनमित्येतत्सिद्धं तच्च मनः किल ॥
मलिनं जीवबन्धाय तत्रस्थः काष्ठतापसः ।
नाऽत्रोपादेयता ज्ञानमेतन्मौनत्रयं किल ।।यो० वा०॥

यद्यपि यह वाङ् मौन २ है यह भली भांति सिध्द हो चुका ८ तथापि वह मलिन मनोरूप ही है यानी मलिन मन का दृढ निश्चय रूप है इसलिए वह जीव बन्धन के लिए समर्थ है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है अतः काष्ठ तापस भी जीव बन्धन के लिये ही स्थित हुए हैं। यह तीनों मौन बन्धन स्वरूप होने के कारण त्याज्य हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन तीनों मौनों में उपादेयता बुध्दि बिल्कुल नहीं है ॥

सुषुप्तमौनम्

इदं सुषुप्तमौनं तु जीवन्मुक्तमिति स्थितम् ।
अपुनर्जन्मनो जन्तोः शृणु श्रवणभूषणम् ॥

यह सुषुप्त मौन तो जीवन्मुक्तों के अनुभव पथ में स्थित है इसमें स्थिति रखने वाले जन्तु का पुनर्जन्म नहीं होता है इस लिये उसके श्रवण का यह भूषण है अतः आप भी इसे सुनिये। यथा—

यथाभूतमिदं बुद्ध्वा जगज्ज्ञानात्मविभ्रमम् ।
यथास्थितमसन्देहं सौषुप्तं मौनमेव तत् ॥

संसार रूप अनेक विभ्रमों के अधिष्ठान भूत इस आत्म-तत्व को यथार्थ रूप से जानकर सन्देह रहित जो स्वरूप में अव-स्थित रहता है वही सुषुप्त मौन कहा जाता है ॥

अविभागमनभ्यासं यद् ब्रन्तमास्थितम् ।
ध्यायतोऽध्यायतश्चैतत् सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥

विभाग करने वाले विकल्प के नाश से विभाग शून्य अत-एव अभ्यास की अपेक्षा से रहित अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप होने से आदि और अन्त से शून्य जो ध्यान करते हुए या न करते हुए पुरुष का अविस्थत रूप है वही सुपुप्त मौन है ॥

अहमस्मि जगत्यस्मिन् स्वस्ति शब्दार्थमात्रकम् ।
सत्तासामान्यमेवेति सौपुप्तं मौनमुच्यते ॥

इस जगत् में अनामय शब्दार्थ मात्र यानी सर्वात्मक तथा सत्ता सामान्य रूप मैं ही हूँ इस तरह की ज्ञान स्थिति को सुपुप्त मौन कहते हैं ॥

यस्मात् संविदमेव स्यात् स्वान्यादि कलना कुतः ।
अनन्तमेव सौपुप्तं सर्वं मौनमतस्ततम् ॥

सुपुप्तमौनमेवेदमनन्तत्वात् प्रबोधवत् ।
तुर्यमेवाऽमलं विद्धि तुरीयातीतमथाऽपिच ॥
॥ यो० वा० नि० प्र० ॥

प्रबोध युक्त इस सुपुप्त मौन को ही अनन्त होने से निर्मल तुरीयपद या तुरीयातीत पद समझ लीजिये इस सुपुप्त मौन को हम आगे कवित्त रूप से कहते हैं ॥

मौनं चतुर्विधं प्रोक्तं वाङ्मात्रं वागिन्द्रियनिग्रहः ।
ज्ञानेन्द्रियाणांसंरोधस्त्वक्षमौनमुदाहृतम् ॥१॥
कर्मेन्द्रियाणां संरोधःकाष्ठमौनं तु काष्ठवत् ।
गौणं तु त्रिविधं मौनमुत्तमं तु मनोलयः ॥२॥

न मौनी मृ।तां यातो न ीनी दुग्धवालकः ।
न मौदी व्रतनिष्ठोपि मौनसंलीनमानसः ॥३॥व्रो.सा.॥

शास्त्र में अधिकारी, सम्बन्ध, विषय, और प्रयोजन, चार अनुवन्ध कहे जाते हैं । सो दिखलाते हैं— यथा- नित्यानित्यवस्तुविवेकः (नित्य और अनित्य वस्तुका विवे इहामुत्रार्थभोगविरागः (इस लोक में और परलोक में विष भोगके प्रतिविराग) शमदमादिसाधनसम्पत् (शमदम उपर तितीक्षा श्रद्धा और समाधान ये शमदमादि साधन सम्पत्ति हैं (मुमुक्षुत्वंच) और मोक्ष की इच्छा, जो इन साधनों युक्त है वह अधिकारी है। यदि कोई साधन चतुष्टय सम्प से हीन परुष कुतूहल से किसी प्रकार ब्रह्म विचार में प्रवृत्त भी जाय तो उसको फलपर्यन्त (जीवन पर्यन्त) अपरोक्ष अ भवरूप ब्रह्मज्ञान नहीं होता है। इसलिये विवेक वैराग्य आ के अभाव में ब्रह्मज्ञान नहीं होता यह व्यतिरेक सिध्द होता है इन चार साधनों वाला अधिकारी मुक्ति को चाहने वाला है और मुक्ति प्राप्य और अधिकारी प्राप्त करने वा है इसं प्रकार प्राप्य प्रापक भाव सम्बन्ध है

"तत्वमसि" "अहंब्रह्मास्मि"—इत्या श्रुतियों से प्रत्यगात्मा और ब्रह्म का ऐक्य उपनिषद् प्रमाणका विषय है। इसी प्रकार 'तरतिशोकमात्म आत्मा को जानने वाला शोक को पार कर जाता

"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्मज्ञ ब्रह्म ही हो जाता है' इत्यादि श्रुति वाक्यों से विचार विधि का फल भी ज्ञान द्वारा मुक्तिरूप प्रयोजन है ऐसा सिद्ध होता है। इसी प्रकार अधिकारी के साथ कर्तव्यतारूप और फल का प्राप्यता रूप सम्बन्ध है अतः निरवधिक सुख चाहने वाले को इस ग्रंथ के अध्ययन में अवश्य प्रवृत्त होना चाहिए, क्योंकि यह मेरा इष्ट साधन है ऐसा ज्ञान प्रवर्तक होता है। निरवधिक सुख से बढ कर अन्य कोई इष्ट नहीं हो सकता इस प्रकार भाष्यरूप शास्त्र के विषय, प्रयोजन आदि अनुबन्धों का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार ने भाष्य के प्रकरण एक देशरूप होने से अपने ग्रंथ के भी वे ही विषय, प्रयोजन आदि हैं, यह सूचित किया है ॥ यथा—साधन चतुष्टय आनन्तर अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (ब्र०सू० १-१-१)

अथ·········से अधिकारी अतः·········से सम्बन्ध
ब्रह्म·········से विषय जिज्ञासा·········से प्रयोजन
इसी प्रकार देखें कवित्त नं० १

ओंकार ब्रह्म का प्रतीक चार पाद कहा. अ, उ, म, अर्धमात्रा
अ······ विराट्—विश्व—स्थूल—जाग्रत से अधिकारी
उ······ हिरण्यगर्भ— तैजस्— स्वप्न— से सम्बन्ध
म······ ईश्वर— प्राज्ञ— कारण— सुषुप्ति— से विषय
अर्धमात्रा— ब्रह्म— तुर्या— तुर्या— साक्षी— से प्रयोजन

इस प्रकार एक देशरूप होने से भी एकता रूप संबंध है।
और यदि कोई महाशय यह शंका करे कि इस ग्रन्थ में

मंगलाचरण नहीं किया है, अतः यह शिष्टाचार विरुद्ध लक्षित होता है इसलिए अग्राह्य है ? सो भी युक्त नहीं है, क्योंकि यह समझना भी अनभिज्ञों का ही कार्य है न कि प्रज्ञों का, क्योंकि इस ग्रन्थ के कर्ता ने प्रमाण से ही कार्य किया है, यथा (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा) 'ब्र०सू० १-१-१ ।' इस सूत्र को भाष्य में श्री भगवान् शङ्कराचार्य जी महाराज लिखते हैं—

मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् ।
अर्थांतर प्रयुक्त एव ह्यथ शब्दः श्रुत्या
मंगल प्रयोजनो भवति ।

मंगल का वाक्यार्थ में समन्वय नहीं होता इसलिए अन्य अर्थ में (अर्थान्तरेय अर्थ में) प्रयुक्त हुआ ही 'अथ' शब्द श्रवण द्वारा मंगल का प्रयोजक होता है और इसी भाष्य को अनुवादक रत्न प्रभा में भी लिखते हैं—

श्रवणेन शङ्खवीणादिनादश्रवणवद् ओंङ्काराथ ।
शब्दयोः श्रवणं मङ्गलफलकम् ॥

शंख वीणा आदि के समान शब्द सुनने के समान 'अथ' और 'ओंकार' के सुनने से ही मंगल रूप फल होता है ॥ जैसा कि कहा है—

ॐकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकाविमौ ॥

सृष्टि के आदि काल में 'ओंकार' और 'अथ' ये दोनों शब्द ब्रह्मा जी के कण्ठ से प्रथम निकले हैं इस लिए दोनों ही मांगलिक हैं। इससे यह शिष्टाचार विरुद्ध नहीं है। अपि च श्रुति के प्रत्येक वाक्यों के तात्पर्य का निर्णय करने के लिए---

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगतात्पर्यनिर्णये ॥

उपक्रमोपसंहार आदि छः प्रमाणों की अपेक्षा अवश्य होती है। इन षड्विध प्रमाणों की उपेक्षा करके यदि केवल मनगढन्त अर्थ किया जाय तो उन वाक्यों का वास्तविक अर्थ हाथ में नहीं आ सकता है अतः इन प्रमाणों के आधार पर ही श्रुतियों का अर्थ निश्चय करना चाहिये। उपसंहारादि लिंग दिखलाते हैं— उपक्रम—

ॐकार ब्रह्म का प्रतीक चारपाद कहा० (कवित्तनं० १)

श्रुतिः-सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्

(मां० २) ये श्रुति इसका आधार है। इसी प्रकार सब कवित्त श्रुति के आधार पर हैं।

भागत्याग लक्षणामें 'तत्त्वमसि' कहा० (कवित्त नँ. ५)

उप संहार—तीन देह हीन जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नहीं०
(क० नं० ३३)

ॐकार वाच्यहीन सर्ववाच्य हीनसोई (क० नं० ३४)

अभ्यास-मैं ही अधिष्ठान आप० (क० नं० १२)
मैं ही एक दृश चैतन्य दृश्य है प्रपंच सभी०(क.नँ. २६)
अपूर्वता फल— बुध्दि मन वाणी की जहां पर गम नहीं–
(क. नं. १६)
प्रत्यक्ष तुरीय लब्ध मूर्खों को होता नहीं–(क.नं. १७)
ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ब्रह्मका स्मरण कहा–(क. नं.३०)
अर्थवाद —जीव ईश मिथ्या माया अविद्या उपाधि दोउ
(क. नँ. ७)
वाचारम्भण मात्र सत्य सुवर्ण ही पाया है (क. नं. ४)
युक्ति-शुक्ति की रजत के गहने कहीं देखे नहीं (क.नं.१६)
निद्रा से स्वप्न में अनेक सा भास रहा० (क. नं. १३)

ये षड्विध लिंग प्रमाण से ग्रन्थ श्रुति अनुकूल है। पूर्वापर भाव का विचार न करके जो लोग अपनी निरालम्ब बुद्धि के आधार पर विचार करते हैं उनसे वेद के यथार्थ अर्थ की आशा नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसे पुरुषों से हमेशा श्रुति डरा करती है। यथा—

विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति।
इतिहास—पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥

इस प्रकार प्रसिद्ध वचन भी मिलते हैं।

प्रकाशक के दो वचन

यह मौनामृतविन्दु नामक ग्रंथ परम श्रेष्ठ उपनिषदों तथा शास्त्रों का सार रूप है। आज जब अणुबम उद्रजन बम आदि आयुधों के आविष्कार से मानवता अभिभूत और त्रस्त है तब ब्रह्मनिष्ठ तपः पूतकाय दण्डि स्वामी श्री रामाश्रम जी महाराज ने अनेक दुरूह शास्त्रों का गम्भीर मनन करके यह 'मौनामृतविन्दु' उपस्थित कर मानवमात्र पर परम उपकार किया है।

इस ग्रंथ रत्न में चार देदीप्यमान मणियां हैं जिनकी ज्योति और दीप्ति से यह अजरअमर ग्रंथ सदा देदीप्यमान है। उन मणियों में कौस्तुभमणि है-'विदेहमुक्ति' इसमें ज्ञानसमकाल में ही मुक्ति का सम्यक् बोध कराया गया है। दूसरी मणि है 'जीवन मुक्ति' यह लेशा वशा मुक्त होने से प्रारब्ध भोग को मानती है, इसमें प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। तीसरी मणि है–'षट् चक्रभेदनमुक्ति' इसमें प्राणों का ब्रह्मरन्ध्र तक उत्क्रमण होताहै परंतु गति नहीं होती। चौथी मणि है-'मंत्रयोग से ब्रह्मलोक प्राप्ति' इसमें प्राणों का उत्क्रमण तथा गति दोनों होते हैं।

विदेहमुक्ति ही मुक्ति है शेष तीनों अविद्या शवलित हैं। यह सारा तत्त्वज्ञान बड़े विस्तार से विविध शास्त्रों के प्रमाण दे दे कर सरल भाषा में समझाने की चेष्टा की गई है। ऐसे ग्रन्थ की रचनाकर पूज्यचरण दण्डिस्वामी श्री रामाश्रम जी महाराज ने त्रिविध तापयुक्त जीव को ब्रह्म प्राप्ति का सहज मार्ग दिखलाने की महती कृपा की है।

इस ग्रन्थ रत्न के प्रकाशन में जिन महानुभावों ने आर्थिक सहायता दी है उन धर्म प्राण महानुभावों को ब्रह्मनिष्ठ स्वामी जी महाराज श्री रामाश्रम जी तथा प्रकाशक की ओर से हार्दिक धन्यवाद है।

—फोकचन्द्र शास्त्री

(कृपया कवित्त नं० ३८ "वेदों का सार से" पहले "क" "ख" वाले आगेके पृष्ठ पढ़ें)-यह कवित भूलसे रह गया था।

(क)

॥ कारिका नं० ३८ ॥

कुण्डलिनी शक्ति साढे तीन चक्र लगाय के,
सुषुम्ना के द्वार को मुख से दबाया है।
सुप्तवत्शक्ति सोई मंद २ फुंकार करे,
सोहं शब्द सोई श्वासोच्छ्वास दरशाया है ॥
केवल कुम्भक से सुषुम्नाका मारग खुले,
षट् चक्र भेदन से सहस्र दल पाया है।
कुण्डलिनी जाग्रत् शिवशक्ति संयोग वही,
रामाश्रम तूरीय पद तूर्णीं ही बताया है ३८ ॥

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥
यावत्सा निद्रितादेहे तावज्जीवः पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगविधेरपि ॥
उद्घाटयेत्कपाटं च यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥

परमदेवता कुल कुण्डलनी शक्ति साढे तीन फेर लगा कर भुजंगाकृति हो मूलाधार पद्म में स्थित है वह शक्ति जब तक निद्रिता रहती है तब तक कोटि २ योगक्रिया करने से भी जीव को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और वह पशुवत् अज्ञानी ही रहता है। जैसे कुंजी के द्वारा दरवाजा खोला जाता है वैसे ही कुण्ड कुण्डलनी शक्ति के जगाने से ब्रह्मद्वार अपने आप ही खुल जाता है, और इस प्रकार जीव को ज्ञान प्राप्ति होती है ।

भुजंगिन्याः श्वासवशादजपा जायते ननु ।
हंकारेण बहिर्याति सः कारेण विशेत्पुनः ॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिम् ।
अजपां नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा ॥
मूलाधारे यथा हंसस्तथा हि हृदि पंकजे ।
तथा नासापुटद्वन्द्वे त्रिभिर्हंससमागमः ॥

भुजंगिनी के श्वास से अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव से जीव सदा अजपा जप करता है जिसमें श्वास निकलते समय "हं" और प्रवेश करते समय "सः" मन्त्र का अजपा जप होता रहता है, यह जप दिन रात में २१६०० बार होता है, मूलाधार पद्म हृदयकमलतथा नासापुटद्वय इन तीनोंसे यह जप होता है।

वायुना घटसम्बन्धे भवेत् केवल कुम्भकम् ।
नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत् ॥

देह के बीच में प्राणवायु का धारण करना ही केवली कुम्भक कहलाता है और नासापुट द्वारा वायु को खींचने से केवलकुंभक किया जाता है, यह क्रिया सहज है, इसमें रेचक पूरक नहीं है। मूलाधार से तीन नाड़ी चलती हैं:—

इडा भोगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ॥

धनुषाकार इडा व पिंगला के बीच में से प्रणवाकृति सुषुम्ना मेरुदण्ड के अन्त तक जाकर मेरुदण्ड से

अलग हो टेढी होकर दोनों भौहों के ऊपर से ब्रह्मरन्ध्रमुख में इडा व पिंगला के साथ त्रिवेणी में जा मिलती है और वहां से ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। इडा और पिंगला ही की तरह सुषुम्ना भी मूलाधार कमल के अन्दर वाले कन्द मूल से निकल कर ब्रह्मरन्ध्र तक गई है।

अथाधारपद्मां सुषुम्नास्यलग्नं।
ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुः शोणपत्रम्॥
अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णाभवर्णैः।
वकारादि सान्तैर्युतं वेदवर्णैः॥

मूलाधारपद्म गुदा के ऊपर व लिंगमूल के नीचे सुषुम्ना के मुख में संलग्न है इसमें रक्तवर्ण चतुर्दल है और इस पद्म की कर्णिका अधोमुख है उज्ज्वल सुवर्ण की भांति इन दलों की दीप्ति है और उसमें व, श, ष, स ये चार वेदवर्ण हैं।

द्वितीयं तु सरोजं यल्लिंगमूले व्यवस्थितम्।
तद्वादि लान्त षड्वर्णं परिभास्वरषड्दलम्॥
तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्।
दशारं डादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम्॥
हृदये नाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत्।
कादिठान्तार्णं संस्थानं द्वादशच्छदशोभितम्॥
कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पंचमम्,

सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशच्छदशोभितम् ।
आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपंचकम् ॥

लिंग मूल में स्थित दूसरे चक्र का नाम स्वाधीष्ठान चक्र है। ब, भ, म, य, र, ल, ये छः वर्ण उसके छः दल हैं। तृतीय मणिपूरक नामक चक्र नाभि मूल में है और ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ ये दश सुवर्णमयवर्ण इसके दश दल हैं। चौथा अनाहतचक्र हृदय में रहता है क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ ये बारह वर्ण इसके द्वादश दल हैं। पांचवां विशुद्ध चक्र कण्ठ में रहता है वह सुनहरा है, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ये सोलह वर्ण इसके षोडशदल हैं। दोनों भौहों के बीच में छठा आज्ञा चक्र है, इसके ह और क्ष दो दल हैं।

तत ऊर्ध्वे तालुमूले सहस्रारं सुशोभनम्,
अस्ति यत्र सुषुम्नायां मूले सविवरं स्थितम् ।
तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुराहितम् ॥
तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखीमता ।
तस्यामध्ये सुषुम्नाया मूलं सविवरँ स्थितम् ॥
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तँ मुक्तिद्वारं च संज्ञया,
ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां संगमः स्यादसंशयः ।
यस्मिन्स्नानात्स्नातकानां मुक्तिःस्यादविरोधतः ॥

द्विदलपद्म के ऊपर तालुमूल में सहस्रदल कमल है वहां छिद्रसहित सुषुम्ना नाडी का मूलस्थान है । उस सहस्रदल कमल के मूल में एक त्रिकोणाकार अधोमुख यंत्र स्थित है । उस के मध्य में जहां सछिद्र सुषुम्ना नाडी का मूल उसे ही ब्रह्मरंध्र कहते हैं । उसे ही मुक्तिद्वार कहते हैं । ब्रह्मरन्ध्र ही इडा, पिंगला और सुषुम्ना का संगम-स्थान तीर्थ श्रेष्ठ प्रयाग कहाता है उसमें स्नान करने से स्नान करने वालों को तुरन्त ही मोक्ष प्राप्त होता है ।

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारँ सरोरुहम् ,
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य वाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ।
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ॥
अत्र कुण्डलनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा ।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥

इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहस्र दल कमल है, वह मुक्ति प्रदस्थान ब्रह्मांडरूप देह के बाहर स्थित है, उस स्थान का नाम कैलास है वहां देवाधिदेव भगवान् सदाशिव रहते हैं । इसी सहस्रदल कमल में कुलरूपा कुण्डलिनी महाशक्ति का लय होने पर चतुर्विधसृष्टि अर्थात्,जेरज,अंडज स्वेदज तथा उद्भिज सृष्टियों का प्रभु में लय होता है । इस अवस्था में योगी अखंड ज्ञानरूप निरंजन परमात्मा के रूप को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है यही तूष्णी अवस्था और तुरीय पद है ।



श्री १०८ श्री परमहंस, परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ
स्वामी श्री रामाश्रम जी महाराज सुपुत्र — मौनी ।

❀ ओ३म् ❀

॥ उपक्रम ॥

ॐकार ब्रह्म का प्रतीक चार पाद कहा ।
अ, ऊ, म अर्धमात्रा वेदों में गाया है ॥
विश्व हो विराड् हिरण्यगर्भ तैजस रूप
जान ईश्वर ही प्राज्ञ तूर्य ब्रह्म रूप पाया है ॥
जाग्रत् में बहि प्रज्ञ स्वप्न में अन्तः प्रज्ञ ।
सुषुप्ति में एकीभूत प्रज्ञान घन आया है ॥
अन्त बहि नहि नहि उभयनः प्रज्ञान घन
रामाश्रम तुरीय पद तूष्णी ही बताया है ॥१॥

इस के अधिकारी चार किस्म के हैं:- उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ । सो ये शास्त्रों में चार भाग से कहे गये हैं यथा-

मन्त्रो हठो लयो राजयोगो योगश्चतुर्विधः
(बोधसार)

मन्त्र योग हठयोग लययोग और राजयोग ये योग चार योगियों के लिये कहे हैं ।

अब इनका ध्यान प्रतिपादन करते हैं—

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगः पृथक् पृथक् ॥

स्थूलंज्योतिस्तथा सूक्ष्मंध्यानन्तु त्रिविधंविदुः॥

मन्त्र योग हठयोग और लययोग में पृथक् २ स्थूल ध्यान ज्योतिर्ध्यान और विन्दु ध्यान नियत किये गये हैं। प्रथम मन्त्र योग ॐकार का जप है यथा-

सर्वेवेदायत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति (क. उ.) । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्य तत् १५

सब वेद इसी का प्रतिपादन करते हैं और सब तपस्याएं इसी की प्राप्ति के वास्ते की जाती हैं इसी की इच्छा के वास्ते ब्रह्मचर्य धारण करते हैं वह ये ॐकार ही है जिसकी आप बुभुत्सा करते हो ॥ (कठोप. २-१५) ॥ यह प्रथम योग मन्त्र है ॥

समाधिर्मन्त्रयोगस्य महाभाव इतीरितः ॥

मन्त्र योग समाधि को महाभाव रूप कहते हैं ॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् (कठ. उ.) एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥२-१७॥

यही आलम्बन श्रेष्ठ है यही आलम्बन पर ब्रह्म को विषय करता है इसी को जान कर इसी आलम्बन से ब्रह्म लोक को प्राप्त करते हैं ॥कठोपनि. २-१७॥

सर्वेषामेव पापानां सङ्घाते समुपस्थिते (सं. उ.)

तारं द्वादशसाहस्रमभ्यासेच्छेदनंहि तत् ॥१.४॥

इस तारक ॐकार का १२००० जप सब पापों के संघातका (इकट्ठे हुए पापों का) छेदन कर देता है ॥ संन्यास-उपनिषत् ॥१.३॥

यस्तुद्वादशसाहस्रं प्रणवंजपतेऽन्वहम् (सं. उ.)
तस्यद्वादशभिर्मासैः परंब्रह्म प्रकाशते ॥१.४॥

(जो यति संन्यासी) बारह १२००० हजार ॐकार का नित्य जप करते हैं उनको एक साल में (यानी बारह १२ महीनों में परंब्रह्म (यानी आत्म साक्षात्कार हो जाता है ॥१.४॥ (शङ्का) मूल में यति का कोइ पद नहीं फिर संन्यासी जपे यह क्यों ॐकार में सब का अधिकार है ? (समाधान) प्रथम तो यह संन्यास प्रकरण है क्यों कि संन्यासोपनिषत् होने से और यथा (अन्यत्र)

ॐकारंविन्दुसंयुक्तं नित्यंध्यायन्तियोगिनः ॥
यतीनांतु महावाक्यं केवलः प्रणवस्तथा ॥

विन्दु संयुक्त ॐकार का योगी नित्य ध्यान करते हैं ॥ यतियों का महावाक्य या ॐकार का जप है

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा (यो.चू.उ.)
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥७॥

पवित्र या अपवित्र (यानी स्नान किए वा बिना स्नान किए) जो प्रणव को सदा जपते हैं वे पाप से इस प्रकार लिप्त नहीं होते जिस प्रकार पद्म का पत्ता पानी से नहीं लिप्त होता ॥ इति मन्त्र योग ॥

❀ ॐकार में हठ योग का वर्णन ❀

प्रधानशक्त्यःप्राणास्ते वै संसाररक्षकाः॥यो.शा.
वशीकृतेषु प्राणेषु जीयते सर्वमेव हि ॥१॥

प्राण ही महाशक्ति हैं प्राण ही जगत् के रक्षक हैं प्राण के वश में करने से सब कुछ जय हो जाता है ॥

हठे वायु प्रधाना वै प्रोक्ता प्राणजयक्रिया (यो.शा.)
सा च वायुप्रधाना हि सर्व श्रेयस्करी मता ॥२॥

हठ योग में वायु प्रधान है वायु प्रधान प्राण जय क्रिया ही सर्व हित कर है।

शुक्रं वायुर्मनश्चैतेस्थूलकारणसूक्ष्मतः (यो.शा.)
अभिन्नस्तत्र प्राधान्य वारेयोवविदुर्बुधाः ॥३॥
शक्तिस्वरूपकत्वाद्धि तन्निरोधान्मनोजयः (यो.शा.)
तस्मान्मनो जयाश्चैव समाधिःसमवाप्यते ॥४॥

वीर्य, वायु और मन ये तीनों स्थूल सूक्ष्म व कारण सम्बन्ध से एक ही हैं इन तीनों में वायु ही प्रधान है

क्योंकि वायु शक्ति रूप है वायु के निरोध द्वारा मन का निरोध हो जाता है इस लिए वायु के निरोध से मनोलय और मनोलय से समाधि की प्राप्ति होती है ॥४॥ ॐकार गान का विषय है (छान्दोग्य के प्रथम मन्त्र में कहा है) यथा-

ॐइत्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतओमितिह्यु द्गायति

ॐ इस अक्षर का गान करके उपासना करे (भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य लिखते हैं- 'ओमिति ह्युद्गायति' ओमित्यारभ्यह्यस्मादुद्गायत्यतउद्गीथ ॐकार इत्यर्थः॥ गान करने के लिए ह्रस्व दीर्घ और प्लुत इन तीन प्रकार के स्वरों का उच्चारण जानना आवश्यक है और स्वर के षड्ज, मध्यम, गान्धार वा घोर मन्द्र, तारकाख्य, ये तीन ग्राम हैं। जैसा संगीत दामोदर में लिखा है॥ यथा-

नाभिमध्ये स्थितो घोरो मन्द्रको हृदयस्थितः ॥१॥
शिरोगतस्तथा तारस्त्रयो ग्रामा इमे स्मृताः (सं.दा.

उनकी अवस्थिति के स्थान हैं नाभि में घोर, हृदय में मन्द्र और शिर में तारकाख्य हैं॥ शब्द ही ब्रह्म में, शब्द की उत्पत्ति आकाश से है, मनुष्य के हृदय में भी आकाश है शब्द का दूसरा नाम नाद है। मानव देह में जिस स्थान से नाद या शब्द उठता है उसको नाद चक्र कहते हैं। नाद वा शब्द को ही घोष और विन्दु को प्रणव कहते हैं

नादचक्र से ॐकार उठकर बिन्दुचक्र में लीन हो जाता है। यथा—

नाभेरूर्ध्वे हृदिस्थानान्मारुतः प्राणसंज्ञकः ॥
नदति ब्रह्मरध्रान्ते तेन नादः प्रकीर्तिः ॥२॥

नाभि से ऊपर हृदय स्थान से गुजरता हुआ जो प्राण संज्ञक वायु है सो गुञ्जार करता हुआ सहस्र कमल दल के अन्त तक जाता है वह नाद है।

आकाशाग्निमरुज्जातो नाभेरूर्ध्वं समुच्चरन् ॥
मुखेऽतिव्यक्तमायाति यः स नाद इतीरितः ॥

नाभि के ऊपर हृदयाकाश में अग्नि व प्राण वायु के संयोग से विचरता हुआ जो शब्द है जो मुख से प्रगट होता है उसे भी नाद कहते हैं ॥ इति (नादोत्पत्तिः)

यदुक्तं ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मग्रन्थिश्च यो मतः ॥
तन्मध्ये संस्थितः प्राणः प्राणाद्वन्हिसमुद्भवः ॥
वन्हिमारुतसंयोगान्नादः समुपजायते ॥

यह जो हृदय आकाश है यही ब्रह्म स्थान है इसी को ब्रह्म ग्रन्थि कहते हैं इसके बीच ही प्राण स्थित हैं। उस प्राण वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है उस अग्नि और वायु के संयोग से नाद उत्पन्न होता है ॥ इति (संगीत दामोदरे)

* नाद ही ब्रह्म स्वरूप है-यथा- *

नाद एव महद्ब्रह्म परमात्मा परः पुमान् ॥

यह ॐकार से नाद इस प्रकार करना चाहिये॥ (व्यास स्मृति यथा—

एवमार्षादिकं स्मृत्वा ततः ॐकारमभ्यसेत् ॥
सार्द्ध त्रिमात्रमुच्चार्यं दीर्घघण्टानिनादवत् ॥३॥

"प्रणवस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्रीछन्दः अग्नि देवता इत्यादि०" स्मरण करके सार्द्ध त्रिमात्रा ॐकार को वृहद्घण्टा की भान्ति (ढंढंढं इत्याकार ओंओंओं शब्द करके जोर से उच्चारण करने का अभ्यास करना चाहिये॥ कार्यारम्भ में मन्त्रोच्चारण में और पूजा पाठादि काल में इसी प्रकार की व्यवस्था है। ध्यानादि काल में मन ही मन में करना चाहिए ओष्ठ (अधर) कम्पित न हो॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ॥
प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते ॥८०॥

(यो. चु. उ.)

यहां दो दृष्टान्तों से प्रणवोच्चारण दिखलाते हैं, और श्रुति प्राण निरोध भी दिखाती है जैसे तैल धारा अवच्छिन्न है और वृहद्घण्टा की तरह एक वार के आघात से सहज २ ध्वनि शान्त होती जाती है वैसे ही एक बार (ॐ ३) के उच्चारण की ध्वनि शान्त होने पर जो शब्द

रहित गति है वही ब्रह्म है ॥

तैलधारा मिवाच्छिन्नं दीर्घ घण्टानि नाद वत्॥
अवाच्यंप्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥१८॥

(ध्यानवि. उ.)

तैल की धारा के समान अवच्छिन्न घण्टे की अनुसरण रूप ध्वनि के समान दीर्घकाल तक ध्वनित होने वाला तथा बिना वाणी के (प्राणों द्वारा ही) उच्चरित बिन्दु पर्यन्त प्रणव के बाद प्रगट होने वाले नाद को जो जानता है वही वेदों को ठीक जानता है ॥ (ध्यान बिन्दु उपनिषत्)

अब दो दृष्टान्तों से प्राणवायु सहित कुण्डलिनी शक्ति का उर्ध्व प्रवेश करते हैं-यथा-

यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेत्पुनः (ध्या. वि.)
तथैवोत्कर्षयेद्वायुं योगी योगपदे स्थितः ॥१६॥
अर्धमात्रां रज्जुं कृत्वा कूपभूतं तु पङ्कजम् ॥
कर्षयेन्नालमार्गेण भ्रुवोर्मध्ये नयेल्लयम् ॥२०॥

(ध्यान. बिन्दु)

जैसे (बच्चे) कमल की नाल से पानी धीरे धीरे खींचते हैं वैसे ही योगी योगावस्था में स्थित होकर धीरे धीरे प्राणों को खींचे। (अर्थात् स्वाधिष्ठान आदि चक्रों

को भेदन करते हुए प्राणों को क्रमशः उर्ध्व भूमिका में ले जाय)१ जैसे किसान रस्सी द्वारा कूएं से जल निकालता है। उसी प्रकार प्रणव की अर्धमात्रा (अव्यक्त नादोच्चारण) को रस्सी बनाकर हृदय रूपी कूएं से नाल (सुषुम्णा मार्ग के द्वारा जलरूपा कुण्डलिनी को भ्रू व मध्य में ले जाय।१६-२०

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये ॥
अ० बिन्दो० ।१३।
ॐकारस्तु तथा योज्यःशान्तये सर्वमिच्छता ॥१२
यस्मिन्संलीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते ॥
ब्र० बिन्दो०

जिस प्रकार कांसी का घण्टा नाद कार सहज २ शान्त होता है उसी प्रकार ॐकार में युक्त होकर दीर्घोच्चारण से जहां शब्द लीन हो यानी सर्वात्म भाव ब्रह्म भाव की इच्छा कर वस्तु का अनुभव कर फिर शब्द की उपलब्धि नहीं वही परब्रह्म है ॥

तावदाकाश संकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्दस्तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते ॥
यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥
यस्तत्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥
नाद० बिन्दु०

जबतक शब्दों का उच्चारण और श्रवण होता है तभी तक मन में आकाश का संकल्प रहता हैं। निशब्द होनेपर तो वह परम ब्रह्म परमात्मरूप में ही अनुभूत होता हैं। नाद रूप करके जो कुछ श्रवण होता है वही ईश्वर की महा शक्ति हैं और शब्द रहित निराकार अवस्था है वही परब्रह्म परमात्मा का रूप है। अर्थात् नाद अवस्था में सगुण ब्रह्म तत्पश्चात् निर्गुण ब्रह्म का अनुभव हुआ करता है॥

बीजाक्षरं परं विन्दु नादं तस्योपरि स्थितम्॥
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥२
ध्या० वि०

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्॥
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥३
ध्या० वि०

बीज (कारण भूत) अक्षर (मकार) से परे विन्दु हैं और विन्दु से भी परे नाद स्थित है शक्ति रूप प्रणव नाद से भी परे स्थित है तथा अकार से लेकर शक्ति पर्यन्त प्रणव रूप अक्षर के क्षीण होने पर जो शब्द हीन स्थिति होती है वही शान्त नाद से प्रसिद्ध परम पद है। जो अनाहत (विना आघात के उत्पन्न, ध्यान में सुनाई पड़ने वाला मेघ गर्जन के समान प्राकृति आदि शब्द) है उ

शब्द का भी जो परम कारण शक्ति है उस के भी परम कारण सच्चिदानन्द स्वरूप शान्त पद को जो योगी प्राप्त कर लेता है उसके समस्त संदेह नष्ट हो जाते हैं ॥२-३॥

शरीरतो मनःसम्यगपनीय विजित्व तत् ॥
स्वस्वरूपोलब्धिर्हिम समाधिरिति चोच्यते ॥

शरीर से मन को पृथक् करके उसका लय करते हुए स्वरूपोपलब्धिका नाम समाधि है ॥

हठस्य च महाबोधः समाधिस्तेन सिध्यति ॥

हठ योग की समाधि को महा बोध कहते हैं ॥ यह उकार रूप स्वप्न अवस्था तैजस नाम हिरण्यगर्भ स्थानीय सूक्ष्मरूप द्वितीयपाद हठयोग है ॥ इति ॥

* अब लय योग का वर्णन करते हैं *

तत्तद्योगे पृथक् ध्यानं वर्णितं योग कोविदैः
मन्त्रे स्थूलं हठे ज्योतिर्ध्यानं वै सिद्धिदं स्मृतम् ।१।

विभिन्न योग मार्ग में विभिन्न ध्यान का वर्णन है यथा मन्त्र योग में स्थूल ध्यान, हठ योग में ज्योतिर्ध्यान करने से सिद्धि की प्राप्ति होती है ॥१॥

लययोगाय यो ध्यान विधिः समुपवर्णितः ॥
विन्दु ध्यानं च सूक्ष्म वा तस्य संज्ञा विधीयते ।२

योग शास्त्रे०

लय योग के लिये महर्षियों ने जिस ध्यान की विधि वर्णित की है उसको सूक्ष्म ध्यान अथवा बिन्दु ध्यान कहते हैं ॥२॥ इन का फल इस प्रकार है-यथा-

स्थूलध्यानाच्छतगुणं ज्योतिर्ध्यानं विशिष्यते ॥
ततोऽपिबिन्दुध्यानस्यफलंशतगुणं स्मृतम् ॥३॥

स्थूल ध्यान से शतगुण फल ज्योति ध्यान में और ज्योतिर्ध्यान से शत गुण फल बिन्दु ध्यान में है।

अति सूक्ष्मतया बिन्दुर्ध्यानगोप्यं प्रयत्नतः ॥
कृपया गुरुदेवस्य महामायाप्रसादतः ।४। यो.शा.

बिन्दु ध्यान सूक्ष्म होने से अति कठिन और गोप्य है श्री गुरू कृपा और ब्रह्म शक्ति महा माया के प्रसाद से ही बिन्दु ध्यान की प्राप्ति होती है ॥

शब्दाक्षरं परंब्रह्म यस्मिन्क्षीणे यदक्षरम् । ब्र.वि.
तद्विद्वानक्षरं ध्यायेदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ।१६।

शब्दब्रह्म (प्रणव) भी अक्षर है और परब्रह्म भी अक्षर है इन में से जिसके क्षीण होने पर जो अक्षय बना रहता है वह (परब्रह्म) ही वास्तव में अक्षर (अविनाशी) है विद्वान् पुरुष यदि अपने लिए शान्ति चाहे तो उस अक्षर परब्रह्म का ही ध्यान करे ॥१६॥

(यह मंत्र ब्रह्म बिंदूपनिषद् १७में और महाभारत शांतिपर्व२३२-३०में है

द्वे विद्ये वेदितव्ये हि शब्दब्रह्म परं च यत्। ब्र.वि.
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥१७

(नारायण विरचित दीपिकायां) द्वे इति-निष्णातः कुशलः। निनदीभ्यां स्नातेः-कौशल इति षत्वम्। विद्या-स्नातः इत्यर्थः ॥१७॥ महाभारत में ऐसा पाठ है—"द्वे ब्रह्मणि वेदितव्ये" (नैलकंठीये भारतभावदीपे) द्वे इति-शब्द ब्रह्म प्रणवः निष्णातः प्रणवोपास्तिकुशलः परं मात्रात्रया-तीतं तुरीयं ॥२३२-३०॥ (भाषा) दो विद्यायें जानने योग्य हैं-एक तो वह जिसे 'शब्दब्रह्म' कहते हैं और दूसरी वह जो परब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध है। 'शब्दब्रह्म' (ॐकार के निरन्तर जाप से) शुद्ध होकर परब्रह्म को जान लेता है।
नृसिंहोत्तरतापिन्युपपित् खण्ड २)

सुषुप्तस्थानश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरश्चतुरूपो मकार एव चतुरूपो ह्ययं मकारः स्थूल-सूक्ष्म-बीज साक्षिभिर्मकाररूपैर्मितेरपीतेर्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्म-त्वाद्बीजत्वात्साक्षित्वाच्च मिनोति०

सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत् की लयावस्था हो जिसका स्थान है अर्थात् समष्टि कारण ब्रह्म में जिसकी स्थिति है; जो ओत, अनुज्ञात, अनुज्ञा और अविकल्प इन चार रूपों वाला है वह प्राज्ञ ईश्वर

जो परमात्मा के तृतीय पद रूप में बताया गया है, ओं की तीसरी मात्रा के रूप में उपलब्ध होने वाला पूर्व चार रूपों से युक्त मकार ही है। निश्चय ही यह म अपने स्थूल सूक्ष्म बीज और साक्षि इन रूपों से च रूप वाला है और प्राज्ञ भी चार रूपों वाला है अ अत्यधिक समानता के कारण मकार ही प्राज्ञ है। इस सिवाय, मिति और अपीति अर्थात् माप करने अ विलीन करने के कारण भी मकार और प्राज्ञ पर समानता रखते हैं 'अ' और 'उ' के बाद 'म' का उच्चा होता है अतः वे दोनों उसके द्वारा माप लिए जाते तथा ओम् कहते समय 'म' के उच्चारण के साथ बन्द हो जाता है अतः अ, और उ, उसी में विलीन जाते हैं। इसी प्रकार वैश्वानर और तैजस भी प्राज्ञ माप लिए जाते हैं, क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न के में सुषुप्ति अवस्था आती है तथा सुषुप्ति में जाग्रत् स्वप्न का लय हो जाता है, अतः क्रमशः जाग्रत् स्वप्न के अधिष्ठाता वैश्वानर और तैजस भी प्राज्ञ विलीन हो जाते हैं। इन समानताओं के कारण इसके अतिरिक्त पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षि होने से भी दोनों परस्पर समान एवं अभिन्न हैं। इस प्रकार जानता है वह अवश्य ही इस सम्पूर्ण का

जगत् को माप लेता है अर्थात् भली भान्ति जान लेता है तथा सब को अपने में विलीन कर लेता है ॥२॥

संस्तभ्य सिंहं स्वसुतान्गुणार्थान्संयोज्यशृङ्गै-र्ऋषभस्यहत्वा ॥ वश्यां स्फुरन्तीमसतीं निपीड्य सम्भक्ष्य सिंहे न स एष वीरः ॥३॥ सिंहम्

जो वस्तुतः समस्त बन्धनों को काटने वाला एवं अविचल होकर भी उपाधिवश या अविवेक के कारण चञ्चल सा प्रतीत होरहा है, ऐसे 'सिंह' नाम से कहे हुए आत्मा को **संस्तभ्य** अपनी ही महिमा में करके; **गुणार्थान्** स्व अर्थात् आत्मा के ही स्थूल विश्व आदि पुत्रों को (जो परमात्मा के प्रथम आदिपाद हैं) **ऋषभस्य** वेदों में प्रधान प्रणव की; **शृङ्गैः** अकार आदि मात्राओं से **संयोज्य** परस्पर समानता के कारण संयुक्त कर के अर्थात् पहले बताये अनुसार ॐकार की मात्राओं तथा परमात्मा के प्रथम द्वितीय आदि पादों की एकता का अनुभव कर के; **हत्वा** स्थूल का सूक्ष्म में सूक्ष्म का कारण में लय करते हुए इसी क्रम से सब का तुरीयमें संहार कर के; **वश्याम् (कृत्वा)** वहां कारण रूपा माया को पूर्वोक्त 'ओत, योग के द्वारा अपने वश में कर के;

स्फुरन्तीम् (मत्वा) 'अनुज्ञात्, योग के द्वारा 'आत्म
सत्ता के अधीन ही उसकी सत्ता और स्फूर्ति है' ऐसा
अनुभव कर के; असतीम् (कृत्वा) अनुज्ञा योग के
द्वारा उसकी पृथक् अभाव सा कर के; निपीड्य उसे सार्व
चैतन्य में निमग्न (विलीन) करदे। यों करने के पश्चात्
सिंहेन संभक्ष्य अज्ञान आदि से सर्वथा असम्ब
विरुद्ध बोधमय परमात्मा के साक्षात्कार द्वारा उस माय
आवरण को छिन्न भिन्न कर के तुरीय परमात्मा
चिन्तन करते हुए यानी तुरीय रूप होकर; (यः स्थित
भवति-जो स्थित होता है) स एष वीरः वही वीर
उसको कभी संसार से पराभव प्राप्त नहीं होता।

अब पंचमहाभूतादि तथा अव्याकृत का ब्रह्म में ल
दिखाते हैं यथा—

ततो निपुणया युक्त्या पुरुषे प्रकृतेर्लयः ॥
लय-योगाभिधेयः स्यात् प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः ॥

श्रेष्ठ युक्तियों द्वारा प्रकृति का लय पुरुष में, लय यो
चित् महर्षियों ने लय योग नाम से पुकारा है।

पृथिव्यप्सु पयो वन्हौ वन्हिर्वायौ नभस्यसौ ॥
नभोऽव्याकृते तच्च शुद्ध-शुद्धोऽस्म्यहं हरिः ॥

पृथ्वी जल में लय होती है, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश अव्याकृत में लय होता है और अव्याकृत रूप माया जड़ व असत्य होने से शुद्ध ब्रह्म में अध्यस्त है यानी कल्पित है वह शुद्ध ब्रह्म 'मैं' ही हूं।

तदनन्यत्वमारंभण शब्दादिभ्यः। ब्रह्मसूत्र २-१-१४।

इस सूत्रविषे श्री व्यास भगवान् ने कारण से भिन्न करके कार्य का असत्व कथन किया है। और श्री भाष्य कार ने इसका विस्तार से निरूपण किया है। (वहीं देखें)

* ब्रह्मविद्योपनिषत् *

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्म वादिभिः।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालं लयं तथा ॥

(इत्यारभ्य)

कालशब्दो मेचकवाचको वर्णं लक्षयति-वर्णमित्येव वक्तव्ये कालग्रहणं मात्रा रूपकालस्यापि संग्रहार्थमिति द्रष्टव्यम् ॥३॥

ॐकार रूप जो एक अक्षर ब्रह्म है इस प्रकार जिसको ब्रह्मवादी कहते हैं उसका शरीर, स्थान, काल व लय को दिखाने को श्रुति प्रतिज्ञा करती है यहां से आरम्भ कर के

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये ।१२।

ॐकारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता॥

यहां तक सब दिखलाया है ॥ इति ब्रह्मविद्योप०

लयलक्षणंतु—

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लय लक्षणम् ॥
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥ ध्या० बि
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोःपरमं पदम्।२५

नाद के अन्तर्गत ज्योति और ज्योति के अन्तर्ग
मन है। वह मन जहां लय हो वही विष्णु का परम पद है

प्रशस्ता लययोगस्य समाधिर्हि महालयः ॥
नादस्य विन्दोः साहाय्यात्समाधिरधिगम्यते ॥

लय योग की सर्वोत्तम समाधि को महालय कहते
नाद और विन्दु की सहायता से इस समाधि की सि
होती है। यह मकार ही सुषुप्ति स्थान प्राज्ञ नाम तृतीय
ईश्वर है इसी में सृष्टि और लय होते हैं यही यहां लय यो
तृतीय पाद कहा है यह अति सूक्ष्मतर है ॥इति लय योग

॥ अब चतुर्थ राज योग कहते हैं ॥

"राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः"

सब योगों के राजा या सब योगों में श्रेष्ठतम होने

ही इसका नाम राजयोग है।

वृत्तिर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत् ॥
विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने ॥१॥
ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः ॥
तेनोपलब्धिः सिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते ॥२॥

वृत्ति जयपूर्वक स्व स्वरूप का प्रकाश करना राजयोग कहाता है। राज योग साधन में विचार बुद्धि की प्रधानता रहती है। विचार शक्ति की पूर्णता द्वारा राज योग का साधन होता है। राज योग के ध्यान को ब्रह्म ध्यान कहते हैं। राज योग से सिद्धि प्राप्त महात्मा का नाम जीवन्मुक्त है। राज योग की समाधि को निर्विकल्प समाधि कहते हैं ॥२॥

अब मांडूक्य श्रुति से चतुष्पाद दिखलाते हैं यथा श्रुति—

जागरितस्थानो वहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंश-
तिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ।मां० ३।

जाग्रत् अवस्था जिसका स्थान है जो वहिः प्रज्ञ है सात अङ्गों वाला है उन्नीस मुखों वाला है और स्थूल विषयों का भोक्ता है वह वैश्वानर पहला पाद है ॥३॥

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः
प्रविविक्त भुक्तैजसो द्वितीयः पादः ।मां०उ०४।

स्वप्न जिसका स्थान है तथा जो अन्तः प्रज्ञ, सा
अङ्गों वाला उन्नीस मुखों वाला और सूक्ष्म विषयों
भोक्ता है वह तैजस दूसरा पाद है ॥४॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्च स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभू प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमु प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥मां० उ० ५॥

जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष किसी भोग इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है सुषुप्ति कहते हैं। वह सुषुप्ति जिसका स्थान है तथा एक भूत प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप होता हुआ ही आनन्द आनन्द का भोक्ता और चेतना रूप मुख वाला है प्राज्ञ ही तीसरा पाद है ॥५॥

वह यह आत्मा परमार्थ और अपरमार्थ रूप से पाद वाला है ऐसा कहा है। उसका बीजांकुर स्था पाद त्रयस्वरूप अपरमार्थ रूप रज्जु सर्पादि के स अविद्या जनित कहा गया है। अब सर्पादि स्थानीय तीनों पादों का निराकरण कर 'नान्तः प्रज्ञम्' इत्य रूप से उसके रज्जु स्थानीय अबीजात्मक परमार्थ स्व का वर्णन करते हैं।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञान घनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यम ग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यय-सारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

भाष्योक्तार्थ पूर्व.—किन्तु आत्मा चार पादों वाला है ऐसी प्रतिज्ञा कर उसके तीन पादों का वर्णन कर देने से ही चौथे पाद का अन्तः प्रज्ञादि विशेषणों से भिन्न होना तो सिद्ध ही है; अतः यह "नान्तः प्रज्ञम्" इत्यादि प्रतिषेध तो व्यर्थ ही है (सिद्धान्ती) ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार सर्पादि विकल्प का प्रतिषेध करने से ही रज्जु के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार जैसा कि "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्य में देखा जाता है, यहां (जाग्रदादि) तीनों अवस्थाओं में स्थित आत्मा का ही तुरीय रूप से प्रतिपादन करना इष्ट है। यदि तुरीय आत्मा अवस्थात्रयविशिष्ट आत्मा से सर्वथा भिन्न होता तो उसकी उपलब्धि का कोई उपाय न रहने के कारण शास्त्रोपदेश की व्यर्थता अथवा शून्यवाद की प्राप्ति हो जाती। जब कि सर्पादि (सर्प, धारा भूच्छिद्रादि) रूप से विकल्प रज्जु के समान (जाग्रदादि) तीनों स्थानों में एक

ही आत्मा अन्तः प्रज्ञादि रूप से विकल्पित हो रहा
तब तो अन्तः प्रज्ञत्वादि के प्रतिषेध विज्ञानरूप प्रमा
की उत्पत्ति के समकाल ही आत्मा में अनर्थ प्रपञ्च
निवृत्ति रूप फल सिद्ध हो जाता है; अतः तुरीय
साक्षात्कार करने के लिये इसके सिवा किसी अन्य प्रमा
अथवा साधन की खोज करने की आवश्यक्ता नहीं
जैसे कि रज्जु और सर्प का विवेक होने के समकाल
ही रज्जु में सर्प निवृत्ति रूप फल की प्राप्ति होते ही रज्जु
ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार यहां समझना चाहिये
किन्तु जिनके मत में घट ज्ञान में अन्धकार की निवृ
के सिवा किसी और कार्य में भी प्रमाण की प्रवृत्ति हो
है उनका तो मानों ऐसा कथन है कि छेद्य पदार्थों के अवय
का सम्बन्ध विच्छेद करने के अतिरिक्त भी छेदन क्रि
का वस्तु के किसी एक अवयव में कोई व्यापार होता
छेद्य अवयवों का सम्बन्धच्छेद करने में प्रवृत्त छेदन क्रि
जिस प्रकार उसके अवयवों के विभक्त हो जाने में सम
होने वाली है उसी प्रकार जब की घट और अन्धकार
पार्थक्य करने में प्रवृत्त प्रमाण अनिष्ट अन्धकार की निवृ
रूप फल में ही समाप्त हो जाने वाला है तब घट ज्ञान
अवश्यम्भावी है, यह प्रमाण का फल नहीं है। उसी
समान आत्मा में आरोपित अन्तः प्रज्ञत्वादि के विवेक

पूवृत्त प्रतिषेध विज्ञान रूप प्रमाण का अनुपादित्मित जिसका स्वीकार करना इष्ट नहीं है उस) अन्तः प्रज्ञत्वादि की निवृत्ति के सिवा तुरीय आत्मा में कोई अन्य व्यापार होना सम्भव नहीं, क्योंकि अन्तःप्रज्ञत्वादि का निवृत्ति के समकाल में प्रमातृत्वादि भेद की निवृत्ति हो जाती है। यथा-"ज्ञाते द्वैतं न विद्यते." मांडु का.१-१८ ऐसा ही "ज्ञान हो जाने पर द्वैत नहीं रहता" इत्यादि वाक्यद्वारा आगे कहेंगे भीः क्योंकि वृत्ति ज्ञान की स्थिति द्वैत निवृत्ति के क्षण के सिवा दूसरे क्षण में नहीं रहती, और यदि स्थिति मानी जाय तो अनवस्था का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने से द्वैत की निवृत्ति नहीं होगी। अतः यह सिद्ध हुआ की प्रतिषेध विज्ञान रूप प्रमाण के प्रवृत्त होने के समकाल में ही आत्मा में आरोपित अन्तः प्रज्ञत्वादि अनर्थ की निवृत्ति हो जाती है। 'अन्तः प्रज्ञ नहीं है' ऐसा कह कर तैजस का प्रतिषेध किया है; 'बहिः प्रज्ञ नहीं है' इससे विश्व का निषेध किया है; 'उभयतः प्रज्ञ नहीं है' इस वाक्य से जाग्रत् और स्वप्न के बीच की अवस्था का प्रतिषेध किया है 'प्रज्ञान घन नहीं है' इससे सुषुप्ति का प्रतिषेध किया है, क्योंकि यह बीज भावमय-अविवेक स्वरूपा है, 'प्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का प्रतिषेध किया है;

तथा 'अप्रज्ञ नहीं है' इससे अचेतन का प्रतिषेध किया
किन्तु जब कि अन्तः प्रज्ञत्वादि धर्म आत्मा में प्र
उपलब्ध होते हैं तो केवल प्रतिषेध के ही कारण
रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्पादि के समान असत्यत्व
सिद्ध हो सकता है ? इस पर कहते हैं—रज्जु आदि
प्रतीत होने वाले सर्प धारा आदि विकल्प भेदों के
उनके चित्स्वरूप में कोई भेद न होने पर भी परस्पर
दूसरे का व्यभिचार होने के कारण वे असद्रूप हैं।
चित्स्वरूप का कहीं भी व्यभिचार नहीं है इस लिए
सत्य है। यदि कहो कि सुषुप्ति में उसका व्यभिचार हो
तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति का
अनुभव हुआ करता है जैसा कि—"नहि विज्ञा
विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते." बृ. उ-४-३-३
"विज्ञाता की विज्ञाति का लोप नहीं होता" इस श्रु
सिद्ध होता है। इस लिये वह अदृश्य है और
अदृश्य है इस लिये अव्यवहार्य है तथा कर्मेन्द्रिया
अग्राह्य और अलक्षण यानी लिङ्ग रहित है तात्पर्य
कि उसका अनुमान नहीं किया जा सकता इसी
अचिन्त्य है अतएव शब्दों द्वारा अकथनीय है वह
प्रत्ययसार है अर्थात् जाग्रत् आदि स्थानों में एक ही आ
ऐसा जो अव्यभिचारी प्रत्यय है उससे अनुसरण किया

योग्य है अथवा-'आत्मेत्येवोपासीत.'बृ.उ.१.-४-७।
'आत्मा है इस प्रकार ही उपासना कर'' इस श्रुति के अनुसार जिस तुरीय का ज्ञान प्राप्त करने में एक आत्मप्रत्यय ही सार यानी प्रमाण है वह तुरीय एकात्मप्रत्ययसार है। अन्तःप्रज्ञत्वादि स्थानियों (जाग्रत् आदि अवस्थाओं के अभिमानियों) के धर्म का प्रतिषेध किया गया, अब प्रपञ्चोपशमम्'' इत्यादि से जाग्रत् आदि स्थानों (अवस्थाओं) के धर्मों का अभाव बताया जाता है। इस लिये वह शान्त यानी अविकारी है और क्योंकि वह अद्वैत अर्थात् भेदरूप विकल्प से रहित है इस लिये शिव है। उसे चतुर्थ यानी तुरीय मानते हैं, क्योंकि यह प्रतीत होने वाले क्योंकि तीन पादों से विलक्षण है वही आत्मा है और वही ज्ञातव्य है। नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत् में भी लिखा है यथा—

मात्रामात्राः प्रतिमात्राः कुर्यादश्तुरीय ईश्वरग्रासः स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशश्चतुरात्मोतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पैरोतो ह्ययमात्मा.इत्यादि नृ. उ. खं.२

प्रत्येक मात्रा को प्रति मात्रा के रूप में परिणत करदे (अ, उ, म्) ये मात्राएं हैं अकार का उकार में लय होता है, उकार उसकी प्रतिमात्रा है और मकार उकार की प्रतिमात्रा है तथा मकार की प्रतिमात्रा प्रणव, क्योंकि प्रणव

में ही सब का लय होता है अतः अकार आदि मात्राम
के अपनी २ प्रतिमात्रा में लय होने की भावना करे। (इ
प्रकार वैश्वानर के तैजस हिरण्य गर्भ में और उनके प्र
ईश्वर में लय होने की भावना करनी चाहिये) इन वैश्वा
आदि तीन पादों के अतिरिक्त जो परमात्मा के चतुर्थ पाद
रूप में उपवर्णित तुरीय परमेश्वर है। वे कारणात्मा ई
को भी अपना ग्रास बना लेते हैं अपने में विलीन कर
हैं। वे स्वराट् हैं अपनी शक्ति से शक्तिमान् सम्राट् हैं,
ही सर्व समर्थ ईश्वर हैं तथा अपने ही प्रकाश से प्रकाशि
होने वाले परमात्मा हैं। उनके भी चार स्वरूप हैं। ओ
अनुज्ञात् अनुज्ञा और अविकल्प, । अवश्य ही ये परमा
'ओत' हैं सर्वत्र व्यापक हैं, ठीक उसी तरह, जैसे संहार
में कालाग्नि और सूर्य अपनी प्रचण्ड ज्वालाओं में और
रश्मियों से इस सम्पूर्ण जगत् को बाहर भीतर से व्याप्त
लेते हैं। ये परमात्मा अनुज्ञाता भी हैं। इस सम्पूर्ण जगत
लिये अपने आप को दे डालते हैं। सब को अपना स्वरूप
बना लेते हैं ठीक वैसे ही जैसे सूर्यदेव अन्धकार को अ
स्वरूप बना लेते हैं उसे अपने प्रकाश में विलीन करके प्र
रूपता प्रदान करते हैं। इसी प्रकार ये परमात्मा अनुज्ञैक रस
एक मात्र ज्ञान के रस से परिपूर्ण हैं अज्ञान का न
करके चिन्मय रूप से ही स्थित हैं। ठीक उसी तरह
जलाने योग्य काष्ठ आदि को जला कर अग्नि केवल ते

त्रामय रूप से स्थित हो जाती है। साथ ही ये परमात्मा
। (अविकल्प भी हैं भेद और संशय से रहित हैं क्योंकि ये
के मन और वाणी के विषय नहीं हैं, चित्स्वरूप हैं। अतः ये
चार रूप वाले ओंकार ही हैं अवश्य ही यह ओंकार, ओत,
पाद अनुज्ञात्, अनुज्ञा और अविकल्प इन अपने ही स्व-
रूपों से चार रूपों वाला है, अतः तुरीय पाद की भांति
र यह ओंकार भी परमात्मा ही है। क्योंकि यह सब कुछ
, नाम रूप में ही है अर्थात् नाम वाचक है और रूप वाच्य।
यदि वाच्य के चार भेद हैं तो वाचक के भी हो सकते हैं,
क्योंकि उनमें भेद नहीं है। अतः जैसे परमात्मा के ओत
आदि चार स्वरूप हैं, वैसे ही ओंकार के भी हैं। इस लिये
रीय चित्स्वरूप ओत अनुज्ञात् अनुज्ञा और अविकल्परूप
ने के कारण ओंकार और परमात्मा दोनों परस्पर अभि-
हैं। जैसे वैश्वानर आदि का तुरीय में लय होता है,
सी प्रकार ओत आदि का अविकल्प में लय होता है।
तः यह सब कुछ अविकल्प ही है। उसमें किसी प्रकार
कोई भी भेद नहीं है।

चतुर्थ पाद के विषय में श्रुति का यह उपदेश है—
त्रा रहित ओंकार अर्थात् परमात्मा के नामात्मक
ओंकार मात्रा रहित बोलने में न आ सकने वाला निराकार
रूप ही (मन वाणी का अविषय होने के कारण) व्यव-

हार में न आ सकने वाला, प्रपञ्च से अतीत कल्याण म
एवं अद्वितीय परमात्मा का चतुर्थपाद है जो इस प्र
जानता है वह आत्मा ही आत्मा के द्वारा परमात्मामें पूर्ण
प्रवेश हो जाता है । यह उपासक वीर होता है। संसा
कहीं भी उसका पराभव नहीं होता। मांडूक्योपनिषद्

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽ
वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं
एवं वेद ॥मां.उ.१२॥

मात्रा रहित ओंकार तुरीय आत्मा ही है।
अव्यवहार्य प्रपंचोपशम, शिव और अद्वैत है। इस प्र
ओंकार आत्मा ही है । जो उसे इस प्रकार जानता है
स्वतः अपने आत्मा में ही प्रवेश कर जाता है ॥१२॥

ॐकार पादशो विद्यात्पादामात्रा न संशयः
गौ.का.॥ ॐकारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिद
न्चिन्तयेत् ॥२४॥

ओंकार को एक एक पाद करके जाने पाद
मात्राएं हैं इसमें सन्देह नहीं इस प्रकार ओंकार को
क्रम से जान कर कुछ भी चिन्तन न करे ॥४॥

कार्यकारणता याता कारणे न हि कार्यता
कारणत्वं ततो गच्छेत् कार्याभावे विचारतः॥

अथ शुद्धं भवेद् वस्तु यद्वै वाचामगोचरम्।२

कारण से कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है परन्तु कारण में कार्य की स्थिति कदापि नहीं रह सकती, इस कारण कार्यभाव के अभाव हो जाने से केवल सत् चित आनन्द रूप कारण भाव की ही स्थिति रह जाती है। जब कार्य और कारण भाव निवृत्त हो जाता है तब मन और वाणी के अगोचर शुद्ध ब्रह्म पद ही शेष रह जाते हैं।१-२

ततः साधननिर्मुक्तःसिद्धो भवति योगिराट्॥
तत्स्वरूपं न चैतस्य विषयो मनसो गिराम्।३।

(इस) तुरीय पद में स्थित होने (यानी स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाने) पर साधन की आश्यकता नहीं रहती। तब साधक साधन अवस्था से निर्मुक्त हो जाता है और सिद्ध पदवी को प्राप्त करके योगिराज बन जाता है। उस योगिराज की अवस्था का विषय मन और वाणी से अगोचर है। यही तरीय पद है॥३॥

सूक्ष्मत्वाद् दुर्वचं सूत्रं व्योम सूक्ष्मतरं ततः॥वृ. वा. सार॥ व्योमाश्रयः सूक्ष्मतमो न वाग्गोचरमेत्यतः॥३-८-२३॥

सूक्ष्म होने से सूत्र ही दुर्वच है आकाश (अव्यक्त) सूत्र से भी सूक्ष्मतर है उसका उत्तर अति कठिन है

आकाश का आश्रय इससे भी सूक्ष्मतम है ॥ जब बृहस्
भी इसको नहीं कह सकते तब साधारण विद्वान् की
बात ही क्या ॥२३॥

❀ कवित्त नं० २ ❀

न्याय और वैशेषिक को अनुमान प्रमाण क
योग और सांख्य को प्रधान दरशाया है
धर्मशास्त्र पूर्व मीमांसा में यज्ञरूप (यज्ञोवैविष्
कह के यज्ञ रचवाया है ॥ शास्त्र का क
कारण सोइ (शास्त्र योनित्वात्) ब्रह्म सूत्र उ
मीमांसा से पाया है ॥ नेति नेति वेद कह
खुद को दिखाते नहीं रामाश्रम तुरीय
तुष्णी ही बताया है ॥२॥

प्रथम न्याय शास्त्र को दिखाते हैं (न्याय सूत्र) यथा-

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लि

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख तथा तटस्थ ज्ञान यह आत्मा के लिङ्ग हैं। इच्छा द्वेषादि वास्तव में अ करण के धर्म हैं। अतः इच्छाद्वेषादि के साथ आत्मा सम्पर्क बताने के कारण न्याय दर्शन प्रकृति परिणा बहुत ही सम्बन्ध युक्त है ऐसा सिद्धान्त होता है।

अणु को नित्य बता कर उसी के सम्मेलन से न्याय दर्शन में समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति बताई गई है वह अणु भी वास्तव में प्रकृति का ही विकार मात्र है अतः प्रकृति परिणाम तथा प्रकृति के साथ साक्षात् रूप से जिस का सम्बन्ध है ऐसे न्याय दर्शन में ईश्वर की अद्वितीय व्यापक सत्ता का साक्षात् सम्पर्क और वर्णन नहीं हो सकता। तथापि न्याय दर्शन आस्तिक होने से कर्म फल के साथ उसमें ईश्वर की निमित्त कारणता का सम्बन्ध बताया गया है, और अनुमान प्रमाण द्वारा परोक्ष रूप से सृष्टि के साथ ईश्वर का सम्पर्क बताया गया है। न्याय दर्शन के प्रथम आह्निक में यथा **ईश्वरःकारणं पुरुष कर्मा फलप्रदर्शनात्** इसके भाष्य में महर्षि वात्स्यायन ने कहा है:—

पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनम् इति यद्धीनं स ईश्वरः तस्मात् ईश्वरः कारणम्

(१) श्रुति कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृति. (बृ.उ.१-५-३) अन्तः करण धर्मत्वं धर्मादीनाम्। सां.द.५-२५

धर्मादि को अन्तः करण धर्मता है जीव का पराधीन कर्मफल भोग जिसके आधीन है वह ईश्वर है। अतः ईश्वर ही जीव के कर्म फल दाता हैं। इस तरह से जड़ कर्म के

चेतन प्रेरक रूप से ईश्वर की निमित्त कारणता बतलाई और श्री प्रसिद्ध न्याय वृत्तिकार विश्वनाथ जी ने आह्निकके २१ वें सूत्र में—

"क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्" इस प्रकार सूत्र वृत्ति द्वारा संसार की उत्पत्ति के प्रति ईश्वर की निमित्त कारणता प्रतिपन्न की है अर्थात् घट की उत्पत्ति के लिये जिस प्रकार कुम्भकार निमित्त कारण है उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति के लिये ईश्वर निमित्त कारण है। जिस प्रकार कार्य देखने से कारण का अनुमान होता है उसी प्रकार कार्य ब्रह्म जगत् को देखने से उसके कर्ता निमित्त कारण रूप ईश्वर का अनुमान होता है यह न्याय सिद्धान्त है॥ वैशेषिक दर्शन भी स्थूलतः न्याय दर्शन की तरह है। यथा (सूत्र)—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराःसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च आत्मनो लिङ्गानि" ॥ (३—२—४)

प्रकृति का आवरण ही जीव और ब्रह्म में पार्थक्य विधान का कारण है। तो जिस दर्शन में प्राकृतिक आवरण का जितना प्राधान्य वर्णित रहेगा उस में जीव और ब्रह्म का भेद भी उतना ही बलवान् रहेगा और प्राकृ

गुणों का उतना ही अभिनिवेश जीवात्मा पर समझा जाय-गा इस में कोई भी संशय नहीं है यही कारण है कि इन दर्शनों में ब्रह्म के साथ जीव की इतनी पृथक्ता बताई गई है और प्रकृति के अन्तःकरणावच्छिन्न अनेक गुण तथा धर्मों का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ बताया गया है। दृष्टान्त रूप से समझ सकते हैं कि न्याय और वैशेपिक में प्रकृति का आवरण जीवात्मा पर अत्यधिक होने से उन दोनों में आत्मा को अन्तः करण के समस्त धर्मों के साथ युक्त किया गया है। यथा—**प्राणापान०** प्राण और अपान क्रिया, निमेप और उन्मेप क्रिया, जीवन मनोगति इन्द्रियान्तर विकार सुख दुःख इच्छा द्वेप प्रयत्न ये सब आत्मा के लिङ्ग हैं। इन सब लक्षणों के द्वारा यही बात स्पष्ट होती है कि न्याय और वैशेपिक में जीवात्मा पर प्रकृति का विशेप आवरण रहने से प्राकृतिक अन्तः करणादि उपाधियों के साथ आत्मा का अनन्य सम्बन्ध रहता है। इसमें भी प्रकृति परिणाम जात सुखदुःखादि के साथ मन के द्वारा आत्मा का सम्बन्ध बताया गया है। और द्रव्य गुण कर्मादि पट् पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति रूप अपवर्ग का वर्णन किया गया है। इसनिःश्रेयस के साथ केवल निवृत्ति का सम्पर्क होने से नित्यानन्द मय ब्रह्म पद के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। अतः

वैशेषिक दर्शनोक्त मुक्ति के साथ ईश्वर का साक्षात् सम्बंध नहीं
सकता है। तथापि अपनी आस्तिकता प्रमाणित करनेके लि
न्याय दर्शन की तरह अनुमान प्रमाण की सहायता
जगदुत्पत्ति के लिये ईश्वर की निमित्त कारणता प्रतिपादि
की है। यथा वैशेषिक दर्शन के द्वितीय अध्याय के प्रथ
माह्निक में।

"संज्ञाकर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्"

॥ इस सूत्र के उपस्कार में शङ्कर मिश्र जी ने लिखा है
संज्ञा नाम, कर्म कार्यं क्षित्यादि तदुभयं अस्
द्विशिष्टानां ईश्वरमहर्षीणां सत्वेऽपि लिङ्गम्।
पटादि संज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसंकेताधीनमे
यः शब्दो यत्र ईश्वरेण संकेतितः स तत्र साधु
तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिङ्गत्वम्। ए
कर्मापि कार्यमपि ईश्वरे लिङ्गम्। तथा
क्षित्यादिकं कार्यत्वात् घटवत् इति॥

संज्ञा या नाम और कर्म "कार्य क्षित्यादि" अ
क्षिति अप् आदि कार्य यह दो लौकिक मनुष्य से वि
पता युक्त ईश्वर महर्षि आदि के अस्तित्व को प्रमा
करते हैं। घटपट आदि नाम से जो तत्तत्पदार्थों का

नहीं जाता है इस में ईश्वर संकेत ही कारण है चिति अप् आदि के ये सब कार्य हैं तो इनके कर्ता भी कोई अवश्य होंगे वही कर्ता ईश्वर हैं। अतः सिद्धान्त निश्चित हुआ की जगदुत्पत्ति के लिये ईश्वर की घट कुलालवत् निमित्तकारणता है। यही वैशेषिक दर्शन का अनुमान है॥ योग दर्शन ॥ (सूत्र)

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः

अविद्यादि पञ्च क्लेश व कर्म कर्म फल और संस्कार से रहित पुरुष विशेष ईश्वर है अर्थात् सांख्य प्रवचन का जो रूप है उससे कुछ विशेष सत्ता ईश्वर की है। इन की हेतु अविद्या है १-२४ ॥ तस्य हेतुरविद्या ॥ २-२४॥

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः

अविद्याऽस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश ये पञ्च क्लेश हैं इनकी हेतु अविद्या है। (योग २-३)

(दृग्दृश्यसंयोगो हेयहेतुः) तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् यो. २-२५ ॥ विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायाः ॥ यो. २-२६ ॥

इन योग सूत्रों में इस हेय संसार का निदान अर्थात् हेतु प्रकृति पुरुष का संयोग है परन्तु प्रकृति पुरुष का संयोग जन्य इस संसार का उच्छेद होना संभव है। इस को हान कहते हैं इस हान का उपाय प्रकृति पुरुष का यथार्थतः भेद ज्ञान है। इस

प्रकार प्रकृति पुरुष का भेद ज्ञान ठीक २ होने से मोक्ष हो
यही योग का परम पुरुषार्थ कहागया है। योग दर्शन के
सार जब साधक की मुक्ति होती है तो उस समय पुरुष केवल
रूप स्थित होकर प्रकृति के सम्पर्क को त्याग कर देता है
साथ पुनः बन्धन सम्बन्ध नहीं रहता है, परन्तु उससे प्र
का अस्तित्व लुप्त नहीं होता है, केवल वह मुक्त पुरुष प्रकृ
साथ कर्तृत्व भोक्तृत्व छोड़ करके उदासीनवत् प्रकृ
द्रष्टा बना रहता है अतः योग दर्शन के अनुसार प्रकृ
नित्यता खंडित नही होता है। इसमें प्रकृति अनादि अन
केवल उसके सम्पर्क जनित दुःख से निवृत्ति ही पुरुष की
है, इस लिये त्रिविध दुःख निवृत्ति योग दर्शनोक्त
का लक्ष्य है, ब्रह्मानन्द प्राप्ति लक्ष्य नहीं है। और
कारण ईश्वर की अद्वितीय व्यापक आनन्दमय सत्ता
दर्शन में प्राप्त नहीं हो सकती है। क्योंकि जहां प्र
प्राधान्य और नित्य स्थिति रहेगी वहां व्यापक ब्र
का साक्षात्कार बाधित हो जायगा अतः योग दर्
प्रकृति परिणाम तथा प्रकृति का सम्बन्ध अधिक हो
प्रकृति को प्रधान माना है ॥ इति ॥

योग दर्शन की तरह सांख्य दर्शन में भी प्रकृति
प्रधानता होने से मुक्ति के साथ ईश्वर का सम्बन्ध स्थ
नहीं हो सका है। अनादि अविवेक द्वारा प्रकृति के

पुरुष का औपचारिक सम्बन्ध हो जाता है जिससे अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों प्रकार के दुःखों के द्वारा पुरुष विमोहित हो जाता है। यथा-

(अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः)

त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ नाम मुक्ति है और सांख्य दर्शन की सम्मति में दुःख निवृत्ति का एकांतिक उपाय प्रकृति पुरुष का विवेक है। यथा-

(तद्विपरीतः श्रेयान्व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्)

प्रकृति और पुरुष का भेद ही यानी साक्षात्कार ही श्रेष्ठ उपाय है। यह व्यक्त, विकृति अव्यक्त, प्रकृति और ज्ञ, पुरुष इन तीनों के विशेष ज्ञान से उत्पन्न होता है।

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मिनमेताहमित्यपरिशेषम्॥
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

तत्त्व के बारम्बार अभ्यास करने से भ्रम रहित ज्ञान उत्पन्न होता है॥

(नोभयञ्च तत्त्वाख्याते)

तत्त्व के साक्षात्कार होने से सुख दुःख दोनों ही नहीं रहते हैं॥ वे तत्त्व यह हैं (१-६१)

सत्वरजस्तमसां प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारो

हंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मन्त्रिभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः॥

तत्व समास में लिखा है --

मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥
सां० का० ४॥

मूल प्रकृति किसी की विकृति नहीं है। महत् आदि सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं; सोलह तत्त्व विकार हैं; पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है॥ ४॥

इस तत्वज्ञान से जब पुरुष अपने शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप को समझ लेता है तभी पुरुष की मुक्ति होती है अतः प्रकृति सम्बन्धविच्छेद द्वारा त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही सांख्य दर्शन के अनुसार मुक्ति है इसमें परमानन्दमय ब्रह्मपद में स्थिति के साथ मुक्ति सम्मत नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि अपने शरीर के विचार से प्रतिदेह में पुरुष की भिन्न भिन्न बहुसत्ता मानना, प्रकृति को नित्य मानना व प्रधान कहना यह सांख्य का मत है सो अयुक्त है॥

धर्मशास्त्र पूर्व दर्शन के प्रकाशक दो महर्षि हुए हैं ए

जैमिनी महर्षि जिन्होंने कार्य ब्रह्म के अन्तर्गत स्वर्गापवर्गादि प्रदान के अर्थ ही यज्ञ धर्म प्रधान दर्शन बनाया प्रथम भाग में कार्य ब्रह्म का विशेष सम्बन्ध होने से उसमें ईश्वर सत्ता का साक्षात्प्रतिपादन नहीं हो सकता क्योंकि कार्य से कारण की ओर अग्रसर होने के पथ में ही ईश्वर सत्ता का आभास उपलब्ध होने लगता है। इस लिए महर्षि जैमिनीकृत पूर्व मीमांसा दर्शन यज्ञ प्रधान है। उसमें वेद मन्त्र द्वारा शुद्ध रूप से अनुष्ठित यज्ञ के साथ इस प्रकार अपूर्व का सम्बन्ध बताया गया है कि उसके द्वारा याज्ञिक को दुःखहीन चिर सुखमय स्वर्गापवर्ग की प्राप्ति हो सकती है। इस में यज्ञ क्रिया ही प्रधान है। यथा (यज्ञोवै विष्णुः) यज्ञ ही विष्णु है और देवता तथा ईश्वर गौण है॥ परन्तु महर्षि भरद्वाज कृत कर्म मीमांसा दर्शन का उत्तर भाग इस प्रकार नहीं है। उसमें समस्त कार्य ब्रह्म को कारण ब्रह्म से अभिन्न मानकर कार्य ब्रह्म के साथ कारण ब्रह्म ईश्वर की एकता देखना ही मुक्तिलक्षण है। यथा—

(सच्चिदेकंतत्) (भेद प्रतीतिरुपाधिकत्त्वात्) (कार्यकारणाभ्यामभिन्ने) (कार्य ब्रह्म निर्देशरतत्सम्बन्धात्) (कार्यकारणयोरेकतापादनं मोक्षः)

(तस्मिन् प्रकृतिलयः)

परमात्मा सत् चित् और एक रूप है। भेद की प्रतीति उपाधि जन्य है। कार्य ब्रह्म और कारण ब्रह्म अभिन्न हैं। कारण ब्रह्म के सम्बन्ध ही कार्य ब्रह्म निर्देश होता है। कार्य ब्रह्म के साथ कारण ब्रह्म की एकता सम्पादन द्वारा ही महर्षि भरद्वाजकृत कर्म मीमांसा को मुक्ति है। उसमें प्रकृति का लय होता है। इससे परे दैवी मीमाँसा दर्शन है। इसमें माया ब्रह्म की शक्तिस्वरूपिणी और उससे अभिन्ना है। १ यथा—

(ब्रह्मशक्त्योरभेदोऽहं ममेतिवत्)

जिस प्रकार मैं और मेरा इन दोनों में अभेद सम्बन्ध है उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति रूपिणी प्रकृति दोनों का अभेद सम्बन्ध है। ईश्वर की आनन्दमय सत्ता की उपलब्धि करना ही दैवी मीमांसा दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है। "रसो वै ब्रह्म" इसमें ईश्वर को रसरूप करके वर्णन किया गया है और उसी रसके आस्वादन और प्राप्ति के लिए भक्ति मार्ग ही श्रेष्ठ है ऐसा बताया गया है साधक वैधी भक्ति के द्वारा अभ्यास करता हुआ रागात्मिका भक्ति को प्राप्त करके अन्त में परा भक्ति को पाकर

सच्चिदानन्दरूप परमेश्वर को जान सकता है। यथा दैवी मीमांसा में—

"स्वरूपद्योतकत्वात्पूर्णानन्दता परा" "ब्रह्मणोऽधिदेवाधिभूत रूपं तटस्थ वेद्यम्" "स्वरूपेण तदध्यात्मरूपम्" "स्वरूपतटस्थ वेद्यं सच्चिदानन्दमयमद्वितीयं ब्रह्म"

परा भक्ति वही है जिसमें परमात्मा के सच्चिदानन्दमय स्वरूप का ज्ञान और नित्यानन्द की प्राप्ति हो। ब्रह्म के ईश्वर भाव और विराट् भाव की उपलब्धि तटस्थ दशा में होती है। स्वरूप दशा में परमात्मा के अध्यात्मभाव की उपलब्धि होती है। इस तरह से अद्वितीय सच्चिदानन्दमय परमात्मा स्वरूप और तटस्थ दोनों लक्षणों के द्वारा ही वेद्य [जाना जाता] है। इस दर्शन में माया मायी से अभिन्न होने के कारण मुक्ति दशा में माया की सत्ता मायी ईश्वर में विलीन रूप से उपलब्ध होती है और इसी लिए इस दर्शन में कारण ब्रह्म की प्रधानता और कार्य ब्रह्म की गौणता रहती है। कर्म मीमांसा में कार्य ब्रह्म की उपलब्धि होकर उसी के अवलम्बन से कारण ब्रह्म की उपलब्धि होती है परन्तु इस दर्शन में कारण ब्रह्म की

प्रधानता होने के कारण ऐसा नहीं होता है। इस में कारण ब्रह्म की उपलब्धि होकर उसी के अवलम्बन से उसी रूप में कार्य ब्रह्म का अनुभव होता है। अर्थात् इस 'जगत् ब्रह्म है, ऐसा अनुभव न होकर 'ब्रह्म ही जगत् है' ऐसा अनुभव होता है और माया की सत्ता ब्रह्म में लवलीन के समान होने से ईश्वर की अद्वितीय व्यापक सत्ता इसमें प्रत्यक्ष होने लगती है इस लिए प्रकृति प्रधान सांख्य दर्शन में ईश्वर की जो 'संख्यया अनन्त सत्ता उप- लब्ध होती थी वह परिपाक को प्राप्त होकर "विभुतया अनन्त सत्ता रूप से उपलब्ध होने लगती है और इस लिए दैवी मीमांसा में लिखा है यथा सूत्र—

" अद्वितीयेऽपि विभुतया संख्यया चानन्तः "
" स एक एव कार्यकारणत्वात् " "तदेवेदमिति
" तदभिन्नमाराध्यं कृत्स्नम् "

ईश्वर की अद्वितीय सत्ता दो प्रकार से अनन्त प्रतीत होती है—एक संख्या के द्वारा अनन्त और दूसरी व्याप- कता के द्वारा अनन्त कार्य ब्रह्म और कारण ब्रह्म रूप में वह एक ही है। कारण ब्रह्म परमात्मा ही कार्य ब्रह्म ईश्वर है। समस्त विश्व की उन्हीं के रूप से पूजा करनी चाहिये क्योंकि दोनों एक ही हैं। इस पर ब्रह्म सूत्र में कहा है—

न स्थानतोऽपि परस्य उभयलिंगं सर्वत्र हि ॥
३-२-११

पर ब्रह्म परमात्मा में निर्विशेष और सविशेष रूप दो धर्म नहीं रह सकते हैं। क्योंकि जो सत्य वस्तु है उसमें विरुद्ध दो धर्म नहीं रह सकते। यदि कदाचित् उपाधि के योग से दो स्वभाव कहो तो वे सत्य नहीं माने जा सकते। कारण कि अग्नि सम्बन्ध मात्र से उष्ण जल में अग्नि का स्वभाव नहीं माना जा सकता है, इस लिये (अशब्दम्) इत्यादि ब्रह्म परक जो अनेक वेदान्त वाक्य हैं उनमें निर्विशेष एक रूप ही ब्रह्म उपदिष्ट है परन्तु साकार और निराकार दोनों श्रुति हैं, फिर निराकार को ही कैसे मुख्य माना जाय॥ इसके उत्तर में यह सूत्र है—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥३-२-१४॥
ब्रह्म निराकार है उपाधि सम्बन्ध होने पर भी साकार नहीं होता है। ॥१४॥

इसके बाद सबसे अन्तिम वेदान्त दर्शन है, जिसको ब्रह्म मीमाँसा कहते हैं। ब्रह्म मीमांसा दर्शन में ब्रह्म के अध्यात्मभाव की मीमांसा की गई है– जिस भाव के साथ माया का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, जो भाव माया से अतीत है, इसलिए वेदांत दर्शन में माया को मिथ्या और

मान्त कहा गया है और जब माया की सत्ता इस तरह से
अस्वीकृत हुई तो विश्वजगत् को प्रकृति का परिणाम न
कह कर ब्रह्म का विवर्त कहा जायगा। इसलिए वेदान्तदर्शन
में संसार को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है अर्थात् रज्जु में
सर्पभ्रम की तरह मोहनी माया के प्रताप से ब्रह्म में ही
जगत् की भ्रांति हो रही है वास्तव में यह दृश्यमान संसार
ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त है। वह ब्रह्म
कैसे जाना जा सकता है। सो कहते हैं यथा शास्त्र
योनित्वात् (सूत्र १-३) इस सूत्र के दो वर्णक हैं प्रथम
यह हैं यथा—

अस्यमहतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद
(वृ० २०२-४-१०) (सायणाचार्य) (यस्य निःश्वसि
वेदाः) वेद जिसके निःश्वास रूप हैं ॥ (द्वितीय वर्णक)
"तत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि० वृ० उ० ३-६-१६
में आपसे जो उपनिषदों से जाना जाता है उस पुरुष
को पूछता हूं। रूप रस आदि से रहित ब्रह्म इन्द्रियों द्वारा
जानने योग्य नहीं है। लिंग सादृश्य आदि से रहित ब्रह्म
अनुमानादि प्रमाणों द्वारा भी जानने योग्य नहीं है
नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्० तै० बा० ३-१२

वेद को न जानने वाला पुरुष उस परिपूर्ण परमात्मा को नहीं जान सकता।

वेदहेतुरपि ब्रह्म तद्वेदादेव प्रतीयते॰

(यजुर तिक) २-१३

ब्रह्म यद्यपि वेद का हेतु है, तो भी उसका ज्ञान वेद से ही होता है।

॥ इति दर्शनम् ॥

अब वेद वचन जो 'नेतिनेति' कह रहा है ये दो बार नेति किसका निषेध करती है (पूर्व पक्ष) 'नेति'नेति' इस प्रकार द्विरुक्ति होने से ब्रह्म और जगत् दोनों का निषेध होता है। इस पर सिद्धान्ती कहता है:—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः

(ब्र० सू० ३-२-२२)

'नेति नेति' इत्यादि श्रुति प्रकृत में प्रधानतया उपन्यस्त ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त रूप दो रूपों का ही निषेध करती है, क्योंकि इति शब्द प्रधान रूप से प्रकृत का परामर्श करता है। वे ही प्रधानतया प्रकृत हैं, ब्रह्म प्रधानतया प्रकृत नहीं है परन्तु रूपद्वयात्मक जगत् के उपसर्जन रूप से निर्दिष्ट है, अतः उसका निषेध नहीं होता और प्रपंच निषेध के पीछे भी (न ह्येतस्मादिति॰)

इत्यादि निर्वचन वाक्य ब्रह्म को कहता है, अथवा (अथ नामधेयम्) इत्यादि वाक्य ब्रह्म को कहता है, अतः उसका निषेध नहीं है यह निर्विवाद है। प्रत्यक्ष विरोध होने से प्रपंच का निषेध नहीं है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसमें व्यावहारिक प्रामाण्य है, अतः दोष नहीं है ॥२२॥ (शेष आगे कहेंगे)

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम् ॥
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥६॥
अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि॥
स्वात्मप्रकाशरूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥७॥

योगतत्त्वोप०

कैवल्य परम पद अनेक मार्गों से दुष्प्राप्य है उस बुद्धि से शास्त्र जाल में पड़े हुये मोहित रहते हैं ॥२३॥

अनिर्वाच्य पद (आत्मा) को कहने के लिये देवता भी समर्थ नहीं है उस स्वयं प्रकाश आत्मा को क्या शास्त्र प्रकाशित कर सकते हैं ? अर्थात् नहीं कर सकते।

॥ कवित्त नं० ३ ॥

उत्क्रान्ति गति अगति से अणु जीवएषोऽणुरात्मा मुण्डक में गाया है॥ वालाग्रशत भाग कहीं

आराग्रमात्र कहा अंगुष्टप्रमाण वास हृदय में बताया है ॥ चैतनचिदाभासयुक्त बुद्धि अणु रूप कही महानणु विरोध नहीं एक में समाया है॥ विभु सर्व व्यापक ब्रह्म वारापार नहीं रामाश्रमतुरीय पद तूष्णी ही बताया है॥३॥

जीव अणु है या सर्वगत-विभु है ? (पूर्व पक्ष) जीव अणु है। यथा—

उत्क्रांति गत्यागतीनाम् (ब्र० सू० ३-२-२६)

जीव का अणु परिमाण है क्योंकि उत्क्रान्ति गति आगति का श्रुति में प्रतिपादन है। यथा—

"स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति" (कौ० उ० ३।३) इति॥

वह जब इस शरीर से उत्क्रमण करता है तब सब इन्द्रियों के साथ उत्क्रमण करता है। यह श्रुति उत्क्रमण कहती है। "ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति० (कौ० १-२) और जो कोई इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्र लोक में जाते हैं। यह श्रुतिगति कहती है। "तस्माल्लोकात् पुनरे-

त्यस्मै लोकाय कर्मणे०" (बृ०उ० ४-४-६)

और उस लोक से फिर इस लोक में कर्म के लिये आता है। यह श्रुति आगति भी कहती है। इन उत्क्रान्ति गति और आगति की श्रुतियों से जीव परिच्छिन्न है ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि विभु की गति नहीं हो सकती है ॥१६॥

"स्वशब्दोन्मानाभ्यां च" (ब्र०सू० २-३-२२)

और इससे भी आत्मा अणु है क्योंकि साक्षात् ही इसको अणु कहने वाली श्रुति है। यथा—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश" (मु० उ० ३-१-६)

यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्त से जानने योग्य है जिसमें प्राण वायु पांच प्रकार से प्रविष्ट है।

॥ इति श्रुतेः ॥

और प्राण के सम्बन्ध से जीव ही अणु कहा जाता है ऐसा ज्ञात होता है। उसी प्रकार उन्मान भी जीव को अणु बतलाता है। यथा—

बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च॥
भागो जीवः स विज्ञेयः॥ (श्वे० उ० ४-६)

केश के अग्रभाग के सौ भाग करके उस शतांश के पुनः सौ भाग करने पर जो भाग होता है वह जीव है

अर्थात् जीव का परिमाण इतना सूक्ष्म है।

"आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपिदृष्टः" (श्वे० उ० ५-८)

जो अंगूठे के बराबर परिमाण वाला सूर्य के समान ज्योतिः स्वरूप संकल्प और अहंकार से युक्त तथा बुद्धि और शरीर के गुणों से भी युक्त है वह अन्य (जीव) भी आरे की नोंक के बराबर आकार वाला देखा गया है। यह अन्य अनुमान है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। (श्वे० उ० ३-१३)

यह अंगूठे के बराबर पुरुष अन्तरात्मा सदा जीवों के हृदय में स्थित है। "एवं प्राप्ते ब्रूमः" ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशःप्राज्ञवत्—

ब्र०सू० २-३-२६

तु शब्द पक्ष की व्यावृत्ति करता है। आत्मा अणु है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा की उत्पत्ति की श्रुतियां नहीं हैं और परब्रह्म के प्रवेश की श्रुति है। एवं तादात्म्य का उपदेश है इससे परब्रह्म ही जीव है, ऐसा कहा है। यदि जीव परब्रह्म ही है तो जितना बड़ा परब्रह्म है उतना बड़ा

जीव हो सकता है और परब्रह्म विभु है ऐसा श्रुति कहा गया है इस से जीव विभु है यथा—

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणे

बृ० उ० ४-४-२

यह महान् अज आत्मा है जो यह प्राणों में विज्ञानमय है।

इस प्रकार के जीव के श्रौत और स्मार्त विभुत्वादस होते हैं। परिशेष से जीव विभु है। तब उसमें अणु आदि व्यपदेश किस प्रकार है? इस पर कहते हैं- "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः" उसके अर्थात् बुद्धि के गुण वे तद्गुण, अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इत्यादि तद्गुणसार- प्रधान जिस आत्मा के संसारित्व में है तद्गुणसार उसका भाव तद्गुणसारत्व है, क्योंकि बु के गुणों के बिना केवल आत्मा का संसारित्व नहीं है अकर्ता अभोक्ता असंसारी नित्यमुक्त सत्स्वरूप आ का कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप संसार बुद्धि रूप उपाधि के अध्यास से ही है। जीव में बुद्धि के गुणों की प्रधानता से बुद्धि के परिणाम से जीव के परिणाम का व्यपदेश हो है और बुद्धि की उत्क्रान्ति आदि से जीव की उत्क्रान्ति आदि का व्यपदेश होता है, उसके परिमाण उत्क्रमण आ स्वाभाविक नहीं है और इस प्रकार—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च
भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥
(श्वे० उ० ५-६)

केश के अग्रभाग का किया हुआ जो सौवां भाग उसका पुनः किया हुआ जो सौवां भाग वह जीव है और वह अनन्तता के लिए समर्थ होता है। इस प्रकार जीव को अणु कह कर उसके ही पीछे श्रुति जीव की अनन्तता का प्रतिपादन करती है। वह तभी युक्त हो सकता है जब कि जीव का अणुत्व गौण माना जाय और आनन्त्य परमार्थिक माना जाय, क्योंकि दोनों मुख्य नहीं हो सकते हैं। आनत्य को गौण और अणुत्व को मुख्य मानना युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि सभी उपनिषदों में ब्रह्मात्मभाव प्रतिपादन करना अभिलषित है। वैसे ही अन्य अनुमान में भी—

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रोह्यवरोऽपि दृष्टः
(श्वे०उ० ५-८)

(बुद्धि गुण निमित्तक आत्मा में अध्यस्त गुण से जीव आरे के अग्र परिमाण के बराबर और अपकृष्ट समझा जाता है, स्वतः तो वह अनन्त है) इस प्रकार बुद्धि गुण के

सम्बन्ध से ही आराग्र परिमाण का शासन है, अपने स्वरू से नहीं।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः (मु० ३-१-६)

(यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्त से जानने योग्य है) इसमें भी जीव के अणु परिमाण का उपदेश नहीं है क्योंकि परमात्मा ही चक्षु आदि से गृहीत न होने से और ज्ञान प्रसादगम्य होने से प्रकृत है और जीव भी मुख्य अणु परिमाण उत्पन्न नहीं होता। इससे जीव को अणु कहना 'जीव दुर्ज्ञेय है' इस अभिप्राय से अथवा उपाधि के अभिप्राय से है, ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार—

"प्रज्ञया शरीरं समारुह्य" (कौ० ३-६)

इस प्रकार भेद के उपदेशों में भी उपाधि रूप बुद्धि से ही 'जीव शरीर पर समारोहण करके' ऐसी योजना करनी चाहिये। अथवा यह 'पत्थर की पुतली का शरीर' इत्यादि के समान व्यपदेश मात्र है, क्योंकि यहां गुण और गुणी का विभाग नहीं है ऐसा कहा जा चुका है। 'जीव का स्थान हृदय है' यह वचन भी बुद्धि के ही अभिप्राय से है। बुद्धि का ही स्थान हृदय है, उसी प्रकार श्रुति—

"कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामिति"

(प्र०उ०६–३) किसके उत्क्रान्त होने पर मैं उत्क्रान्त होऊंगा और किसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठा प्राप्त करूंगा।

"स प्राणमसृजत" (प्र०उ०६–४)

उसने प्राण उत्पन्न किया। इस प्रकार उत्क्रान्ति आदि भी उपाधि के आधीन हैं ऐसा (श्रुति) दिखलाती है। उत्क्रान्ति के अभाव में गति और आगतिका भी अभाव समझा जाता है, क्यों कि जो देह से निकला न हो उसकी गति और आगति नहीं होगी। इस प्रकार उपाधि के गुण की प्रधानता से जीव में अणुत्व आदि का व्यपदेश है, प्राज्ञ के समान, जैसे सगुण उपासनाओं में उपाधि के गुणों की प्रधानता से प्राज्ञ—परमात्मा में अणुत्व आदि का व्यपदेश है, श्रुतिः—

"अणीयान् व्रीहेर्वायवाद्वा" (छां० उ० ३-१४-३)

व्रीहि से या यव से भी विशेष अणु)

"मनोमयः प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसंकल्पः (छां०उ० ३-१४-१) इत्येवं प्रकारः तद्वत्)

इस प्रकार, वैसे यहां भी समझना चाहिए ॥ २६ ॥

शङ्का-यदि बुद्धि के गुण की प्रधानता से 'आत्मा संसारी है' ऐसा माना जाय तो परस्पर विभिन्न बुद्धि और आत्मा के संयोग का अवसान अवश्य होगा, इसलिए बुद्धि वियोग होने पर विभक्त आत्मा के अनालक्ष्य होने से उसका असत्व या असंसारित्व प्राप्त होगा! इस पर उत्तर कहते हैं—

(यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्)ब्र० सू० २-३-३०)

पूर्व में कही हुई दोष प्राप्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिये, किससे ? बुद्धि संयोग के यावदात्मभावी होने से। जब तक यह आत्मा संसारी है एवं जब तक

सम्यक् दर्शन से संसार निवृत नहीं होता है, तब तक इसका बुद्धि के साथ संयोग नष्ट नहीं होता। और जब तक बुद्धि रूप उपाधि के साथ सम्बन्ध है तब तक जीव का जीवत्व और संसारित्व है। वस्तुतः बुद्धिरूप उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से व्यतिरिक्त जीव है ही नहीं क्योंकि नित्य मुक्त स्वरूप सर्वज्ञ ईश्वर से अन्य चेतन तत्व वेदान्त के अर्थ का निरूपण करने पर उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि—श्रुतिः

"नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता०
(बृ० ३-७-२३)

नान्यदतोऽस्ति द्रष्ट श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ०
(छां० ६-८-७)

"तत्वमसि" (छां० ६-१-६) "अहं ब्रह्मास्मि०"
बृ० १-४-७)

इस से अन्य द्रष्टा श्रोता मनन कर्ता या विज्ञाता नहीं है (वह तू है)।

'मैं ब्रह्म हूं' इत्यादि सैंकड़ों श्रुतियां हैं। परन्तु बुद्धि संयोग यावदात्मभावी है यह कैसे समझा जाता है? उसके दर्शन से ऐसा कहते हैं —यथा—श्रुतिः

"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ०उ० ४-३-७)

जो यह प्राणों में विज्ञानमय बुद्धि में ज्योतिः स्वरूप पूर्ण है, वह बुद्धि समान होकर दोनों लोकों में संचार करता है, मानो ध्यान करता है मानो अत्यर्थ चलन क्रिया करता है इत्यादि शास्त्र प्रतिपादन करता है। उस में "विज्ञानमय" इस पद से बुद्धिमय यह कहा समझना चाहिए, क्योंकि अन्य प्रदेश में (विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयः चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः) इस श्रुति में विज्ञानमय का मन आदि के साथ पाठ है। बुद्धिमयत्व से तद्गुणसारत्व ही अभिप्रेत है। जैसे स्त्री में प्रेम आदि की प्रधानता से लोक में 'देवदत्त स्त्री मय है' ऐसा

व्यवहार होता है, वैसे यहां भी समझना चाहिए। "वह समान होकर दोनों लोकों में संचार करता है"। यह श्रुति लोकान्तर में गमन करने में आत्मा का बुद्धि के साथ अवियोग दिखलाती है। किसके समान? सान्निध्य से उस बुद्धि के समान, ऐसा समझा जाता है। उसको (सन्निधान को) श्रुति दिखलाती है—

"ध्यायीतव लेलायतीव (बृ० उ० ४-३-७)

मानो ध्यान करता है (मानो चलन क्रिया करता है।) भाव यह है कि यह आत्मा स्वतः न तो चलता है और न ध्यान करता है, परन्तु बुद्धि के ध्यान करने पर वह मानो ध्यान करता है, एवं बुद्धि के चलने पर मानो वह चलता है। और आत्मा का बुद्धिरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध मिथ्या-ज्ञान मूलक है। और मिथ्या ज्ञान की निवृति यथार्थ ज्ञान के विना नहीं हो सकती अतः जब तक आत्मा का अज्ञान है तब तक बुद्धिरूप उपाधि का सम्बन्ध सान्त नहीं हो सकता है। श्रुति भी कहती है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ श्वे० उ० ३-८ ॥

इस आत्मा को जो महान प्रकाशरूप, अन्धकार से प है, मैं जानता हूँ। उसी को जानकर पुरुष मृत्यु का अ क्रमण करता है, मोक्ष के लिए अन्य मार्ग न है ॥ ३० ॥

उपाधिरायाति स एव गच्छति स एव कर्मा करोति भुंक्ते सएव जीर्यन्म्रियते सदा कुलादिवन्निश्चलएव संस्थितः ॥ वि० चू० ॥

उपाधि ही यहां आती है और वही जाती है। व अनेक प्रकार के कर्मों को करती है और वही अ कर्मों को भोगती है और वही जन्म लेती है तथा म है। आत्मस्वरूप (मैं) हमेशा कुलाचल पर्वत की त निश्चल रूप से स्थित हूं :

(सांख्य दर्शन) १-५१) सूत्र—

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत्

॥ सां० द० १–४० ॥

गतिश्रुति भी उपाधि के योग से है जैसे घट के संग आकाश की

सूत्र— निष्क्रियस्य तदऽसंभवात्

॥ सां० द० १–४६ ॥

निष्क्रिय (आत्मा) में उस गति के असम्भव होने से ॥

तूष्णीमवस्था परमोपशान्तिर्बुद्धेरसत्कल्प-विकल्प हेतोः ॥ वि० चू०
ब्रह्मात्मना ब्रह्मविदो महात्मनोयत्राद्वयानन्द-सुखं निरन्तरम् ॥ ५२७ ॥

संकल्प विकल्प का कारण मिथ्या रूप बुद्धि ही है ब्रह्म वेत्ता महातमाओं का ब्रह्म स्वरूप अद्वितीय और नित्य आनन्द ही तूष्णीम् अवस्था है अर्थात् वाणी और मन का अविषय है।

कवित्त नं० ४

एक मृत्पिण्ड से सर्वघट ज्ञान होवै मृत्तिका है
सत्यनाम विकार की छाया है॥ सुवर्ण आदि
ज्ञान से सर्व भूषण ज्ञान होवे वाचारम्भ
मात्र सत्य सुवर्ण ही पाया है॥ एक के सु
से सर्व विना सुना सुना जावे एक के विचा
से विचार सब छाया है॥ जिसके जान
से सर्व जाना जावे वस्तु सोई रामाश्रम तुरी
पद तूष्णी ही वताया है॥४॥

अब श्रुति भगवती तीन दृष्टान्त देती है यथा—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञा
स्याद्वाचा रम्भणं विकारो नामधेयं मृत्ति
त्येव सत्यम्॥ (छां० उ० ६—१—४)

सौम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिण्ड के
सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि
केवल वाणी के आश्रयभूत नाम मात्र है सत्य
केवल मृत्तिका ही है॥४॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ।।छां उ० ६-१-५)

हे सौम्य जिस प्रकार एक लोह मणि का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण लोहमय (सुवर्णमय) कटक मुकट कुण्डलादि पदार्थ जान लिए जाते हैं क्योंकि विकार वाणी पर अवलम्बित नाममात्र है सत्य तो केवल लोह ही है।

(यथा साम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद्वाचा० छां०६-१-६)

जिस प्रकार एक नखनिकृन्तन (नहन्ना) के ज्ञान से सम्पूर्ण लोह के पदार्थ जान लिए जाते हैं क्योंकि विकार पूर्ववत् ॥६॥

येनाश्रुतं श्रुतंभवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति० छां०३ तत्सत्यं, स आत्मा तत्वमसि० (६-१३-३ छां०)

जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है वही सत्य है वह आत्मा है और वही तू है। इसी को आगे कवित्त से दिखाते हैं—

कवित्त नं० ५

जीव ईश एक लक्ष लक्षण लखे गये जहत
अजहत् रूप लक्षण का पाया है।। जहत् से
खुद का त्याग अन्य ग्रहण होवे अजहत् से
खुद में अन्य को मिलाया है। लक्षणा जहत
नहीं खुद त्यागे अनृत होवे अजहत् नहीं
क्योंकि अन्य रूप माया है।। भाग त्याग
लक्षणा से 'तत्त्वमसि' कहा सोई रामाश्रम
तुरीय पद तूष्णी ही वताया है ।।५।।

सामवेद के छांदोग्य उपनिषद् के ६ छठे अध्याय

में श्वेतकेतु के प्रति उनके पिता उद्दालक मुनि ने (तत्त्वमसि) का नौ वार उपदेश किया है सो 'तत्त्वमसि' क्या है ? ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं—तत् पद क्या है सो कहते हैं—

सर्वज्ञत्वं परेशत्वं तथा सम्पूर्णशक्तता ।
वेदैः समर्थ्यते यस्य तदब्रह्मेत्यवधारय ॥

जो सर्वज्ञ हैं सब से परे है "सा काष्ठा सा परागतिः" इति श्रुतेः) सब का ईश है और सम्पूर्ण शक्ति वाला है वेद जिसकी समर्थता से रचे गये हैं वही ईश्वर है, यह जानो ।

यज्ज्ञानात्सर्व विज्ञानं श्रुतिषु प्रतिपादितम् ।
मृदाद्यनेकदृष्टान्तैस्तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥

जिस के जानने से सब जाना जाता है ऐसा वेद कहते हैं (येनाश्रुतं श्रुतं भवति) इति श्रुतेः) और जो मृत्तिका सुवर्णादि अनेक दृष्टान्तों से (कवित्त नं० ४ में) दिखाया है वही ईश्वर जानो ।

यदानन्त्यं प्रतिज्ञाय श्रुतिस्तत्सिद्धये जगौ॥
तत्कार्यत्वं प्रपञ्चस्य तद् ब्रह्मेत्यवधारय॥

जिसको श्रुति प्रतिज्ञा करके अनन्त कहती है (स चाऽऽनन्त्याय कल्पते) (श्वे० उ० ५-९) यह प्रपंच जिसका कार्य है वही ईश्वर है यह जानो ॥२॥

विजिज्ञास्यतया यच्च वेदान्तेषु मुमुक्षुभिः॥
समर्थ्यते इति यत्नेन तद् ब्रह्मेत्यवधारय॥

जिसको मुमुक्षु जन यत्न से चिन्तन करते हैं वेदान्त विषय में जिसकी जिज्ञासा कही है:—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।" इत्याद्याः श्रुतयः "तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म"

जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, इत्यादि श्रुतियां हैं उसको जानने की इच्छा कर वह ब्रह्म है वही ईश्वर है।

जीवात्मना प्रवेशश्च नियन्तृत्वं च तान्प्रति।
श्रूयते यस्य वेदेषु तद् ब्रह्मेत्यवधारय॥

जो जीव रूप से प्रवेश करता है "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" [तै० उ० २-६-२] [उसको उत्पन्न करके उसमें प्रवेश किया] अन्य "अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्" (इति श्रुतेः छां० उ० ६-३-३) (इस जीवरूप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नामरूप को करता भया) यह वेद में सुना है वही ईश्वर है यह जानो। (य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति) जो आत्मा में रहकर आत्मा का नियमन करता है (इत्यादि श्रुतियां हैं) यह वेद में सुना है वही ईश्वर है यह जानो।

कर्मणा फलदातृत्वं यस्यैव श्रूयते श्रुतौ ॥
जीवानां हेतुकर्तृत्वं, तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥

जो जीवों का प्रकाशक है और माया शबलित होकर कर्ता भी माना जाता है। [इति तत्पदार्थः] जो श्रुतियों में कर्मों का फल देने वाला सुना है यथा "स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः" (बृ० उ०

४-४-२४) यह महान् अज आत्मा है प्राणियों को सर्व
अन्न और धन देने वाला है। इत्यादि श्रुतियां हैं।

❀ अब अहं त्वं पदार्थ कहते हैं ❀

अजडात्मवदाभाति यत्सान्निध्याऽजडा अपि
देहेन्द्रियमनः प्राणाः सोहमित्यवधारय ॥

जिसके सान्निध्य (समीपता) से देह इन्द्रियां मन और प्राणादि जड होने पर भी चेतन जैसे भासते हैं यानें दीख पड़ते हैं वह में ही हूं ऐसा जानो ॥१॥

अगमन्मे मनोन्यत्र साम्प्रतं च स्थिरीकृतम्।
एवं यो वेत्ति धीवृत्तिं सोहमित्यवधारय॥

मेरा मन कहीं अन्यत्र था अब स्थिर कर लिया है इस प्रकार जो बुद्धि वृत्ति मे जानता है वह मैं ही हूं ऐसा जानो ॥२॥

स्वप्नजागरिते सुप्तिं भावाभावौ धियां तथा
यो वेत्त्यविक्रियः साक्षात्सोऽहमित्यवधारय।

जाग्रत को स्वप्न को सुषुप्ति को भाव और अभाव

रूप सब बुद्धियों को जो साक्षात् अविक्रिय रूप से जानता है वह मैं ही हूं ऐसा जानो ॥३॥

पुत्रवित्तादयो भावा यस्य शेषतया प्रियाः ॥
द्रष्टा योसौ प्रियतमः सोहमित्यवधारय ।४।

पुत्र धन आदि जो भाव रूप प्रिय पदार्थ हैं उन सब में जो सब से प्रियतम दीखता है वह मैं ही हूं ऐसा निश्चय करो ॥४॥

यः साक्षिलक्षणो बोधस्त्वं पदार्थः स उच्यते ।
साक्षित्वमपिबोद्धृत्वमविकारितयात्मनः॥५॥

जो साक्षी का ज्ञान कराने वाला बोध है वह त्वं पद का अर्थ है कहा जाता है क्योंकि आत्मा के अविकारी होने के कारण साक्षित्व, बोधृत्व यह दोनों युक्ति संगत हैं ॥

देहेन्द्रियमनः प्राणाऽहङ्कृतिभ्यो विलक्षणः॥
प्रोज्झिताशेषषड्भावविकारस्त्वं पदाभिधः॥

देह इन्द्रिय, मन प्राण, अहंकार से विलक्षण औ
अशेष (सम्पूर्ण) षड्भाव विकारों से रहित त्वं पदा
कहा जाता है।

+ तत् पद का वाच्यार्थ +

तत्पदस्य तु वाक्यार्थः ईश्वरः सर्व शक्तिमान्॥
जगदस्य च कर्ता वै सर्वज्ञः भक्तवत्सलः ।१।
परिपूर्णश्चिदानन्दः परोक्षः विश्वधृक् विभुः॥
शुद्धमायिकरूपश्च तत्पदेन समीरितः ॥२॥

सर्व शक्तिमान् जगत् का कर्ता सर्वज्ञ भक्तवत्सल
परिपूर्ण चेतन आनन्द स्वरूप परोक्ष (दृष्टि से परे)
विश्व को धारण करने वाला विभुः शुद्ध मायोपहित
तत् पद का वाच्य ईश्वर है ॥१॥२॥

+ त्वं पद का वाच्यार्थ +

देहेन्द्रियादिधर्मान्यः स्वात्मन्यारोपयन्मृषा ॥
कर्तृत्वाद्यभिमानी च वाच्यार्थस्त्वं पदस्य सः।१।

देह इन्द्रिय आदि के अन्य धर्मों को मिथ्या आत्मा में आरोपण करके कर्ता भोक्ता का अभिमानी त्वंपद का वाच्य जीव है। ततपद वाच्य ईश्वर सर्वज्ञतादि धर्मयुक्त है, वाच्य पद में एकता असम्भव है।

॥ तत्पद का लक्ष्यार्थ ॥

वेदान्तवाक्यसंवेद्यं विश्वातीताक्षर द्वयम्।
विशुद्धं यत्स्वसंवेद्यं लक्ष्यार्थस्तत्पदस्य सः।

वेदान्त वाक्यों द्वारा जानने योग्य संसार से परे अक्षर अद्वितीय विशुद्ध जो आपको आप ही जानता है, सो तत्पद का लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य है।

॥ त्वं पद का लक्ष्यार्थ ॥

देहेन्द्रियादिसाक्षी यस्तेभ्यो भाति विलक्षणः॥
स्वयं बोधस्वरूपत्वाल्लक्ष्यार्थस्त्वं पदस्य सः॥

देह इन्द्रिय आदि का साक्षी जो इनसे विलक्षण भान होने वाला आत्मा स्वयं बोध स्वरूप त्वं पद का

लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य है। [असि पदार्थ]

असि शब्देन एकत्वं युगयोः प्रतिपादितम्
सोऽहं यथेति शब्दस्य समुच्यार्थो हि सन्मतः

(युगयोः) दोनों का (तत् और त्वं का) एक असि, इस शब्द से प्रतिपादन किया है, तथा 'दोनों एक ही हैं' यह 'असि' शब्द से कहा है और 'वह मैं ही हूं इति' यह समुच्य अर्थ ही विवेकियों (तत्त्वदर्शियों) का सच्चा मत है।

सामानाधिकरण्यं हि पदयोस्तत्त्वमोर्द्वयोः
सम्बन्धस्तेन वेदान्तैर्ब्रह्मैक्यं प्रतिपाद्यते
तथैव प्रकृते तत्त्वमसीत्यत्र श्रुतौ शृणु
प्रत्यक्त्वादीन्परित्यज्य जीवधर्मांस्त्वमःपदम्
सर्वज्ञत्वपरोक्षादीन्परित्यज्य ततः पदम्
शुद्धं कूटस्थमद्वैतं बोधयत्यादरात्परम्
तत्त्वमोः पदयोरैक्यमेवं तत्त्वमसीत्यलम्

इत्थमैक्यावबोधेन सम्यग्ज्ञानंदृढं नयेः॥
"लक्षणा शक्यसम्बन्धः" सा च त्रिविधा-
'जहल्लक्षणाजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति"

तत् और त्वम् इन दोनों पदार्थों का समान अधि-करण होने को ही सम्बन्ध कहते हैं, और उसके द्वारा ही वेदान्ती लोग जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हैं। और उसी प्रकार "तत्त्वमसि" इस श्रुति के प्रकरण में सुनो, कि प्रत्यक्त्वादिः— (परिच्छिन्नत्वादि) जीव के धर्मों को त्वं पदार्थ से हटा कर और सर्वज्ञत्व एवं परोक्षादि धर्मों को तत् पदार्थ से हटाकर शुद्ध कूटस्थ, अद्वैत परवस्तु का आदर से ज्ञान करवाते हैं॥ इस प्रकार 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में तत् त्वं पदार्थ की एकता परिपूर्ण रूप से हो जाती है, और इसी वाक्य के ज्ञान से युक्तियों के द्वारा सम्यग् ज्ञान (ब्रह्म विषयक ज्ञान) दृढ हो जाता है।

+ अब लक्षणा को कहते हैं +

वस्तु के सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं—सो लक्ष
तीन प्रकार है (१) जहत् (२) अजहत् (३) जहदज
[यानी भाग त्याग] जैसे (गंगायांघोपः) गंगा में ग्रा
है। यहां गंगा के प्रवाह रूप वाच्य अर्थ में ग्र
असम्भव है, इसलिये गंगा पद की अपने प्रवाह रू
वाच्य अर्थ को छोड़कर तीर में लक्षणा है, क्यों
जहां पद अपने सम्पूर्ण अर्थ को छोड़ दे वह ज
लक्षणा कहलाती है। और महा वाक्यों में चेतन
अर्थ दोनों का एक है इससे अर्थ का त्याग न हो
से जहत् लक्षणा नहीं हो सकती।

अरुण (लाल) दौड़ना है, यहां लाल रंग
दौड़ना असंभव है इससे अरुण पद की लाल घोड़े
लक्षणा है, यहां अरुण पद की अपने लाल रू
न छोड़कर लाल घोड़े में अजहत् लक्षणा होती है
क्योंकि जहां अपने अर्थ को न छोड़कर पद दू
अर्थ को कहे वहां अजहत् लक्षणा होती है,
लक्षणा भी महावाक्यों में नहीं हो सकती, क्यों

उनमें संपूर्ण वाच्य अर्थ ग्रहण नहीं है।

और जहां किंचित् अर्थ का त्याग और किंचित् का ग्रहण हो वहां जहदजहत् लक्षणा होती है, वह लक्षणा ही महावाक्यों में इस प्रकार घटती है—जैसे "सोयं देवदत्तः" इस वाक्य में देशकाल और पुष्ट कृश आदि विशेषणों का त्याग है। और पिंडमात्र देवदत्त का ग्रहण है ऐसे ही तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में समष्टि व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म आदि विरुद्ध अंश को त्याग कर व्यापक अखंड चैतन्य मात्र का जहदजहत् लक्षणा से [भागत्याग लक्षणा से] बोध होता है॥

ब्रह्मात्मनो लक्षणैक्याद् भेदलेशोऽपि नेष्यते।
ध्रुवंतद् ब्रह्मणो रूपमात्माऽप्येषः ध्रुवस्तथा॥
(बृ० वा० ४-४-३-१७)

ब्रह्म और आत्मा का एक ही लक्षण है, इसलिए दोनों का परस्पर भेद नहीं हो सकता एक लक्षण क्या है?

"ध्रुवत्व" ब्रह्म ध्रुव है आत्मा भी ध्रुव है ॥शङ्का–

अदुःखित्वे परस्येष्टे तदन्यस्याप्यभावतः ।
कस्य दुःखनिवृत्त्यर्थमारब्धोपनिषत्त्वया ॥

तुम परमात्मा में दुःख नहीं मानते । जब जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है, तब किसके दुःख की निवृत्ति के लिए तुमने उपनिषद् का आरम्भ किया है ? समाधान

प्रत्यगज्ञानहेतूत्थदुःखित्वादि भ्रमोऽत्र यः ।
तद्ध्वंसमात्रसिद्ध्यर्थमारब्धोपनिषन्मया ॥

प्रत्यगात्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुआ जो दुःख का भ्रम है, उस भ्रम की निवृत्ति के लिए मैंने उपनिषद् का आरम्भ किया है ॥ इति ॥

॥ कवित्त नं० ६ ॥

अलक्षतो लक्ष नहीं लक्षणा से लक्ष्या कैसे

अलक्ष को लक्ष ऐसे श्रुति को लखाया है ॥ वाल युवा कुमारी स्त्री पुरुष- कहीं वृद्ध दण्डा हाथ वात कफ को दवाया है ॥ रूपहीन रूप वही- सर्वरूप दृष्टि आवे जैसी हो उपाधि वैसा दृष्टि में आया है ॥ उपाधि से हीन लक्ष्यालक्ष कहा जावे नहीं रामाश्रम तुरीयपद तूष्णी हीवताया है ॥

शङ्का:—अलक्ष्य वस्तु को लक्षणा द्वारा कैसे लख्या जा सकता है ?

कथं लक्ष्यत्वमत्यन्तावाच्यस्येतिन चोद्यताम्।
अत्यन्ताऽवाच्यशव्देन लक्ष्यस्यैवाऽत्र सम्भवात् (वृ० वा० सा०॥१॥)

अत्यन्त अवाच्य ब्रह्म लक्ष्य कैसे हो सकता है ? यह तर्क नहीं करना चाहिए क्योंकि अत्यन्तावाच्य शब्द का अर्थ यहां लक्ष्य ही है ॥ १-४-६१ ॥

अवाच्यब्रह्मणो वाक्यं निवृत्तमपि सार्थकम्।
यतो लक्षणयाऽप्यत्र वाक्येन ब्रह्म बोध्यते॥
(बृ० वा० सा० १—४—६०५)

अवाच्य ब्रह्म से निवृत्त हुआ भी वाक्य सार्थक
क्योंकि लक्षणा से यह वाक्य ब्रह्म का बोधक हैं॥६०५

निषिद्धे सति वाच्यत्वे सत्यज्ञानादिकान्यपि।
लक्षयन्त्येव नो तत्त्वं ब्रुवते तदसम्भवात्॥
(बृ० वा० १—४—६०६)

वाच्यत्व का निषेध होने पर सत्य, ज्ञान आदि पद
लक्षक ही हैं वे तत्व को कहते नहीं हैं क्योंकि उस
कथन असम्भव है ॥६०६॥

इक्षु क्षीर गुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते॥
(बृ० वा० सार॥ ६१६)

यद्यपि ईख दूध गुड़ आदि के माधुर्य में महान् अन्त

है तथापि उसका कथन सरस्वती भी नहीं कर सकती है ॥ १-४-६१६ ॥

युक्तं माधुर्यभेदस्य लक्ष्यत्वं यदि भासनात् ।
ब्रह्मापि तर्हि भातत्वाच्छास्त्रेणात्रोपलक्ष्यताम् ॥
(बृ० वा० सार) १-४-६०७

माधुर्य भेद प्रतीत होता है इसलिए उसका लक्ष्य होना युक्त है। ब्रह्म भी शास्त्र से प्रतीत होता है, क्योंकि सत्यादि पद जो शब्द ब्रह्म के वाचक हैं उन में विशेषरूप से शुद्ध ब्रह्म भी प्रतीत होता ही है इसलिए ब्रह्म लक्ष्य हो सकता है ॥ ६०७ ॥

लक्ष्यत्वधर्मस्तत्र स्यादिति चेदस्त्वदैर्घ्यवत् ।
अदीर्घमित्यपह्नुत्या मन्यन्नेति व्यपोह्यते ॥
(बृ० वा० १-४-६०८) ॥

ब्रह्म निर्धर्मक है, उस में लक्ष्यत्व धर्म मानोगे तो अद्वैत की हानि होगी यह नहीं कहना चाहिए, जैसे

'अदीर्घम्' कहने से कल्पित दीर्घत्व का निषेध प्रती
होता है इसी प्रकार अत्यन्तावाच्य कहने से वाच्यत
का निषेध है, यही लक्ष्यत्व है ॥ ६०८ ॥

नाभावोऽपि प्रसज्येत नेति नेतीति वीप्सया।
भावाभावोभयान्यादि सर्वदृश्यनिषेधनात् ॥
(बृ ॰वा॰ सार) ॥१-४-६१६॥

अवाच्य कहने से ब्रह्म में अभाव की प्रसक्ति होगी
यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'नेतिनेति' इस वीप्सा से
भाव, अभाव, और उभय आदि सब दृश्यों का निषे
है।

सर्वदृश्यनिषेधे तु कीदृग्ब्रह्मेति चेच्छृणु।
ब्रह्मानुभववाञ्छा किं यद्वा दृष्टान्तकामना॥
आद्ये त्वमेव ब्रह्माऽसि दृष्टान्तस्तु न तत्समः॥
॥ ६२१ ॥

सब दृश्य का निषेध होने पर ब्रह्म कैसा है ? यदि या

कहो तो सुनो तुम्हें ब्रह्म के अनुभव की इच्छा है या दृष्टान्त की इच्छा है। प्रथम पक्ष में तुम्हीं ब्रह्म हो दृष्टान्त तो उसके सदृश कोई है ही नहीं ॥ ६२१ ॥

मयि देहादयो वाच्या दृश्यन्ते इति चेत्तदा ।
हित्वा वाच्यानवाच्यं त्वं द्रष्टारं ब्रह्म विद्धि भोः॥
॥ ६२२ ॥

मुझ में जड़ देह आदि वाच्य दीखते हैं अतः मैं ब्रह्म कैसे हूं ? यदि यह कहो, तो देहादि वाक्यों का त्याग कर इन वाक्यों का द्रष्टा जो अवाच्य है उसी को तुम ब्रह्म समझो ॥६२२॥ और श्रुति उपाधि को दृश्य रूप से कहती हैं यथा—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ॥
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि
विश्वतो मुखः (श्वे॰ ॥ उ॰) ४-३॥

तू स्त्री है तू पुरुष है तू ही कुमारे या कुमारी है और

तू ही वृद्ध होकर दण्डे के सहारे चलता है तथा तूही [प्रपंचरूप से] उत्पन्न होने पर अनेक रूप हो जाता है ॥३॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥श्वे०उ०
॥ ५-१० ॥

यह [विज्ञानात्मा] न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जो जो शरीर धारण करता है उसी उसी से रक्षित रहता है ॥ १० ॥

प्रत्यक्त्या यः प्रथते स्वयञ्ज्योतिः स्वभावकः।
तिरोधीयेत यद्येष जगदान्ध्यं तदा भवेत्॥
बृ०वा० १-४-५८६ ॥

जो स्वयं ज्योतिः स्वभाव आत्मा प्रत्यग रूप से प्रतीत होता है वह यदि तिरोहित हो (छिप) जाय तो सारा जगत् ही अन्धा हो जाय ॥५८६॥

व्यवहर्त्तु मशक्य एष न च माण्डूक्यवाक्यतः।
अमात्रो यश्चतुर्थः सो व्यवहार्य इती दृशात्॥
(श्रृ० दा०) ॥५६२॥

इस आत्मा का व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि माण्डूक्य श्रुति ने कहा है–कि वह तुरीय अमात्र है अव्यवहार्य है ॥ ५६२ ॥

॥ कवित्त नं० ७ ॥ (अर्थवाद)

जीव ईश मिथ्या माया अविद्या उपाधिदोउ
उपाधि मिथ्या कहो भेद कहां पाया है॥ गुरु
शिष्य भेद मिथ्या शास्त्रपुराण मिथ्या वेद भी
मिथ्या सब वेदो में गाया है॥ वेद नाम
जानने का मिथ्या वृत्ति ज्ञान सोई मिथ्या
प्रपंच नष्ट तिसी को को दर्शाया है॥ मिथ्या

को मिथ्या नष्ट करके खुद नष्ट होवे रामाश्र
तुरीय पद तूष्णी ही बताया है ॥७॥

जीव और ईश्वर मिथ्या कैसे ? कहते हैं यथा—

अधिष्ठानं न जीवः स्यात्प्रत्येकं निर्विकारतः।
अवस्तुत्वाच्चिदाभासो नास्ति तस्य च जीवता॥

प्रत्येक निर्विकार अधिष्ठान जो कूटस्थ है सो जीव न
है। तो क्या आभास जीव है ? नहीं आभ
अवस्तु होने से उसमें भी जीवता नहीं है ॥१॥

प्रत्येकं जीवता नास्ति बुद्धेरपि जडत्वतः।
जीवआभासकूटस्थबुद्धित्रयमतो भवेत् ॥२

जब कूटस्थ आदि प्रत्येक में जीवपना नहीं है, तो बुद्धि
जड़ होने से जीव नहीं है। तो जीव कौन है ? कूट
और कूटस्थ का आभास और बुद्धि यह तीनों मिल
जीव कहा जाता है ॥२॥ अब ईश्वर को दिखला
हैं यथा—

मायाभासो विशुद्धात्मा त्रयमेतन्महेश्वरः।
मायाभासोप्यवस्तुत्वात्प्रत्येकं नेश्वरो भवेत्॥३॥

शुद्धब्रह्म और ब्रह्म का आभास और माया यह तीनों मिलकर ईश्वर कहा जाता है। वस्तु शून्य होने से आभास और माया प्रत्येक ईश्वर नहीं होते।

तस्मादेतत् त्रयं मिथ्या तदर्थो नेश्वरो भवेत्॥
इति जीवेश्वरौ भातः स्वज्ञानान्नहि वस्तुतः॥४॥

इस लिए ये तीनों मिथ्या हैं इनका अर्थ ईश्वर नहीं हो सकता। तथा पूर्वोक्त स्वज्ञान से जीवत्व से जीव और ईश्वरत्व से ईश्वर भान होते हैं वस्तुतः नहीं॥४॥

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा
तच्छक्त्युपाधि संयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्॥
॥ पंचदशी॥ ३-४०॥

चैतन्य की छाया से जड रूप माया चेतन सी भास होती है उस शक्ति की उपाधि के संयोग से ब्रह्म ही ईश्वर भाव से प्राप्त हुआ दीखता है॥४०॥

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति॥३-४१

और ब्रह्म ही कोश की उपाधि से जीवभाव से प्रा
हुआ दीखता है जैसे एक ही पुरुष पिता के प्रति
और पितामह के प्रति पौत्र है ॥४१॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत्
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम्॥३-६

सत्य ज्ञान स्वरूप अनन्त जो ब्रह्म है वही एक
वस्तु है ईश्वर और जीव यह दोनों तो उपाधि
कल्पित हैं ॥

आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ मायया
कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्
॥ प०द० ॥ ६-२१२

आनन्दमय माया अवच्छिन्न चेतन ईश्वर, विज्ञान
अन्तः करण अवच्छिन्न चेतन जीव यह दोनों माया

कल्पना करे हैं और इन दोनों से यह सब जगत् कल्प्या हुआ है ॥

किसने कितनी कल्पना करी है, सो कहते हैं:—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः।
॥वराङ्गोप० ॥५४॥

इच्छा करी (एकोऽहं बहुस्यामिति) 'मैं एक ही बहुत रूप होऊं।' इससे आदि लेकर (तत्सृ-ष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्) उसको रचकर उसी में प्रवेश कर गया। यहां तक ईश्वर कल्पित है। और जाग्रत् से आदि लेकर मोक्ष पर्यन्त सब संसार जीव कल्पित है ॥५४॥

* इन दोनों का मिथ्यापन *

अद्वितीयं ब्रह्म तत्त्वमसंगं तन्न जानते।
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ॥
॥पंचदशी ॥६—२१४॥

जो अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व है उसको असंग रूप

से न जान कर अज्ञानी जन वृथा ही माया कल्पित ईश्वर और जीव के विषय में कलह करते हैं ॥२१४॥

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वंत्वद्वैतमेव हि
॥ पं० द० ॥३–२६६॥

माया नाम की कामधेनु गौ है, उसके ईश्वर और जीव दो बछड़े हैं, वे दोनों अपनी इच्छा से पेट भर कर द्वैत रूप दूध पीओ परन्तु तत्व तो अद्वैत ब्रह्म ही है ।२३६॥

तस्मात् कुतर्कं सन्त्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत्
श्रुतौ तु मायाजीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम्।
॥पं० द० ॥८–६८॥

इसलिये कुतर्क को त्याग कर मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा वाला) श्रुति का ही आसरा ले, क्योंकि ईश्वर व जीव को माया करती है। श्रुति यही दर्शाती है ॥८–६८॥

"तदनन्यत्वमारम्भणं शब्दादिभ्यः"
इस सूत्र में भाष्यकार लिखते हैं:—
"तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वर स्येश्वरत्वम्"०

इसलिये इस प्रकार अविद्या रूपी उपाधि के परिच्छेदकों से ही ईश्वर का ईश्वरत्व सर्वज्ञत्व और सर्व शक्तित्व है (न परमार्थतो०)परमार्थतः विद्याद्वारा सब उपाधियों से रहित आत्मा में-ईशितृ—ईशितव्य सर्वज्ञत्व आदि सब व्यवहार उपपन्न नहीं होते हैं। यथा श्रुतिः—"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति"०

(छां ७-२४-१)

जिसमें किसी दूसरे को नहीं देखता किसी दूसरे को नहीं सुनता किसी दूसरे को नहीं जानता वह भूमा—ब्रह्म है ॥ इति ॥

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्।

उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते॥
॥गौ० का० १-१८॥

इस [गुरु–शिष्यादि] विकल्प की यदि किसी ने कल्पना की होती तो यह निवृत्त भी हो जाता। यह [गुरु–शिष्यादि] वाद तो उपदेश के लिये है। आत्म ज्ञान होने पर द्वैत नहीं रहता ॥१८॥ श्रुति भी कहती है यथा—

न मे वन्धो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरुः।
मायामात्रविकासत्वान्मायातीतोऽहमद्वयः॥
(आत्म० प्र० उ०) ॥१६॥

मेरा बन्ध नहीं है तो फिर मुझे मुक्ति की इच्छा कहां जब मेरे बन्ध मोक्ष नहीं, तो मुझे शास्त्र और गुरु की भी जरूरत नहीं, क्यों कि यह सब माया मात्र है और मैं तो माया से परे अद्वितीय ब्रह्म हूं ॥१६॥ तेज बिन्दु उपनिषत् (५–४३)

वेदः शास्त्रं पुराणं च कार्यं कारणमीश्वरः।

लोको भूतं जनस्त्वैक्यं सर्वं मिथ्या न संशयः
॥ते॰ विन्दु॰ ५-४३॥

वेद शास्त्र पुराण और कार्य (जगत्) कारण (माया) ईश्वर भूः आदि लोक भूत (प्राणी) जन समुदाय है यह सब मिथ्या हैं इस में संशय नहीं है ।।४३॥

अहं ब्रह्मास्मीति या वृत्तिः चिदाभासे प्रकीर्तिता।
कूटस्थस्यस्वरूपस्य सत्तया वृत्तिरञ्चिता ॥

जीव में मैं ब्रह्म हूं यह वृत्ति उस के साक्षी कूटस्थ की सत्ता से ही है और यह मिथ्या है, और मिथ्या संसार का बाध करने में समर्थ है।

हत्वा मोहं विनश्यत् सा कतकाविन्दु वहूनयः।
पंकवह्नितृणानीव वास्तप्ताय स भूमिषु ॥
॥सि॰ लेश-३-३४॥

अज्ञान का विनाश करके ब्रह्माकार वृत्ति भी उसी प्रकार स्वयं नष्ट हो जाती है जैसे कि जल में प्रक्षिप्त निर्मली जल के मलिन भाग को अलग कर स्वयं नष्ट

हो जाती है। तप्त लोह पिण्ड के ऊपर गिरे हुए ज
के विन्दु अग्नि को शान्त कर स्वयं शान्त हो जाते हैं
और अग्नि भूमि के तृणों को नष्ट करके स्वयं शा
हो जाती है ॥ ३४ ॥

यथा निरिन्धनो वह्निःस्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥
॥ मैं० उ० ॥ १-३

जिस प्रकार इन्धन रहित अग्नि स्वयं शान्त हो
जाती है उसी प्रकार वृत्ति हीन चित्त स्वयं ही शान्त हो
जाता है। यह सब वेदों की श्रुतियां हैं ॥ ५ ॥

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूप स्थितिःपरा
॥मैं० २-३०॥ महो० ५-६॥

सारे संकल्पों की सम्यक् शान्ति से शिला के
समान जो स्थिति होती है वह जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था
से विनिर्मुक्त होती है वह परास्वरूपस्थिति कहलाती है
॥ ६ ॥ ३

एवं विशोध्य तत्त्वानि योगी निस्पृहचेतसा
यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति
(त्रिशिखि ब्राह्मणो०)॥१६२॥

भली प्रकार तत्त्व को जान कर के योगी शान्त चित्त हो जाता है जैसे अग्नि इन्धन से रहित स्वयं ही शान्त हो जाती है ॥ १६२ ॥

कल्पिताया अविद्याया हानिः कल्पितविद्यया।
याहृग्यक्षो बलिस्ताहृगिति न्यायविदो विदुः॥
॥बृ० वा० सार। १-४-१०४०॥

कल्पित अविद्या को कल्पित विद्या से ही हानि होती है जैसा यक्ष वैसी बलि यह न्यायवेत्ता पुरुष जानते हैं ।

॥ कवित्त नं० ८ ॥

उभय लिंग रूप ब्रह्म वेदों में वखान किया,
मूर्त्त अमूर्त्त कह कर श्रुति में गाया है॥

विदित से पर अविदित से भी ऊर्ध्व जान
को अविज्ञ अविज्ञ को दर्शाया है॥ 'नेह ना
किञ्चन' कह कर लिंग का निषेध कि
परमार्थ तत्व अलिंग ही पाया है॥ '
नेति वीप्सा' से वेदों का आदेश सोई राम
तुरीय पद तूष्णी ही बताया है। (श्रुति)
ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च
तं च यच्च सच्च त्यच्च (बृ० उ०)॥ २-३
द्वे एव ब्रह्मणो रूपे०(बृ० वा) ४-३

इस सगुण ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त्त और
मरण धर्मा, अमरण धर्मा, अस्थित, स्थित,
और परोक्ष ॥ १ ॥ मूर्त्त अमूर्त्त—ये ही दो ब्रह्म
हैं, प्रपंचात्मक होने से ये प्रपंच भी माने जा
ब्रह्म यद्यपि "अरूपमस्पर्शम्" "क इत्था वेद य
"अविज्ञातं विजानताम्" "यतो वाचो निवर्तन्ते
मनसा सह" "अगृह्यो नहि गृह्यते" इत्यादि श्रु

अनुसार अरूप माना गया है तथापि व्यवहार दशा में अविद्या से आरोपित शरीर इन्द्रिय आदि आत्मा में प्रतीत होते हैं, अतः "रूप्यते बोध्यते याभ्यां ते रूपे मूर्त्तामूर्त्ते" अर्थात् जिस से ज्ञात होता है वेद रूप मूर्त्त और अमूर्त्त हैं, इस व्युत्पत्ति से ब्रह्म स्वरूप कहा गया है ॥ ४ ॥

सन्निवेशो नेत्रदृश्यो यस्य तन्मूर्त्तमुच्यते ।
क्षित्यम्ब्वग्नित्रयं मूर्त्तममूर्त्तं त्वितरद्द्वयम् ॥
(बृ० वा० सार) ॥ २–३–६ ॥

जिन का चक्षु (नेत्र) से प्रत्यक्ष हो वे मूर्त्त कहे जाते हैं । पृथ्वी, जल और तेज इन तीनों पदार्थों के स्वरूप का नेत्र से प्रत्यक्ष होता है । इस लिए ये मूर्त्त कहे जाते हैं । इतर दो अर्थात् पृथिवी आदि तीनों से भिन्न वायु और आकाश अमूर्त्त हैं । भाव यह है कि वेदान्त में पांच भूतों का दो श्रेणियों में विभाग किया गया है । पृथिवी, जल, तेज ये तीन मूर्त्त एवं वायु और आकाश अमूर्त्त हैं ॥ ६ ॥

सदिति त्यदिति प्रोक्ते प्रत्यक्षत्वपरोक्षते।
मूर्त्तामूर्त्तौ च तादृक्त्वाद्रूपे द्वे सत्यनामनी ॥
॥वृ० वा० २-३-१२॥

इन दो पदों का अर्थ कहते हैं। सत्य का अर्थ अपरोक्षत्व और त्यत् का अर्थ परोक्षत्व है। सारांश यह है कि मूर्त्त मर्त्य स्थित और सत्—इन चार विशेषणों से संयुक्त पृथिवी, जल, तेज, ये तीनों भूत हैं। इन चारों विशेषणों में परस्पर हेतुहेतुमद्भाव विवक्षित है—मूर्त्तत्वहेतुक मर्त्यत्वहेतुक स्थितत्व है स्थितत्वहेतुक है—इन्द्रिय ग्राह्यत्व। वायु और आकाश—ये दोनों अमूर्त्तत्व अमृतत्व आदि विशेषणों से युक्त हैं। अमूर्त्त से अमर्त्य त्यत्से अतीन्द्रिय अतीन्द्रियत्व व्यापी व्यापी से अमृत माने जाते हैं। "मूर्त्त विनाशी परिच्छिन्नत्वात् घटादिवत्" अमूर्त्त में "अविनाशी अपरिच्छिन्नत्वात् आकाशवत्" इत्यादि अनुमान के लिए पूर्व पूर्व की उत्तर के साथ संगति है, उसे पूर्व में स्फुट कर चुके हैं ॥ १२ ॥

यह स्थूल सूक्ष्म भूत आधिदैविक और आध्यात्मिक उपासना है। अधिदेव स्थूलभूतसार रस सूर्य है। अधिदेव सूक्ष्मभूतसार रस सूर्य मण्डल स्थित हिरण्यगर्भ है आध्यात्मिक स्थूलभूत सार रस दक्षिण नेत्र है। आध्यात्मिक सूक्ष्मभूतसार रस दक्षिण नेत्र पुरुष है। यह दोनों रूप उपासना परक हैं॥इति॥

अब ब्रह्मसूत्र प्रमाण लिखते हैं। यथा सूत्रम्—

'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंग-सर्वत्र हि'
(ब्र०सू० ३-२-११) (सन्देह)

(सन्देह) क्या परब्रह्म परमात्मा रूपवान् और रूपरहित-उभयात्मक है ? या अरूपवान् ही है। (पूर्वपक्ष) दोनों प्रकार की श्रुतियों के सद्भाव होने से रूपवान् और रूपरहित है। (सिद्धान्ती) ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—परब्रह्म के स्वतः ही दो लिंग उपपन्न नहीं होते, क्योंकि एक ही वस्तु स्वभावतः रूपादि विशेष से युक्त हो और रूपादि विशेष रहित

हो, इस प्रकार विरोध होने के कारण अवधारण नहीं किया जा सकता। यदि कहो कि स्थान से अर्थात् पृथिवी आदि उपाधि के योग से ऐसा होगा, सो भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि उपाधि योग से भी अन्य प्रकार की वस्तु का स्वभाव दूसरे प्रकार का स्वभाव नहीं हो सकता। स्वभावतः स्वच्छ स्फटिक अलक्त (लाखा) आदि उपाधि के योग से अस्वच्छ नहीं हो जाता अस्वच्छता का अभिनिवेश स्फटिक में भ्रममात्र है। और उपाधियां अविद्या से उपस्थापित होती हैं इसलिये अन्यतर लिंग का परिग्रह करें, तो भी समस्त विशेष से रहित निर्विकल्पक ही ब्रह्म समझना चाहिए उससे विपरीत नहीं समझना चाहिए 'क्योंकि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादक वाक्य हैं' अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्

(क॰ उ॰ १-२-१५) (मुक्तिको॰ २-७२) शब्द रहित स्पर्शरहित और रूप रहित अव्यय नित्य) इत्यादि वाक्यों में सर्वत्र समस्त विशेष शून्य ब्रह्म ही उपदिष्ट है ॥११॥

"नभेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्"
(ब्र०सू०३-२-१२॥

भले ही ऐसा हो परन्तु 'ब्रह्म निर्विकल्पक एक लिंग ही है, और स्वतः या उपाधि से उभयलिंग नहीं है' ऐसा जो कहा गया है वह उपपन्न नहीं होता किससे ? भेदसे । क्योंकि प्रत्येक विद्या में ब्रह्म के आकार भिन्न २ हैं' ऐसा उपदिष्ट है। "चतुष्पादं ब्रह्म" "षोड-शकलं ब्रह्म" "वामनात्वादि ब्रह्म" त्रैलोक्य जिस का शरीर है ऐसा ब्रह्म है। और यह वैश्वानर शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार के ब्रह्म के आकार उपदिष्ट हैं इस लिए ब्रह्म सविशेष है ऐसा भी स्वीकार करना युक्त है। परन्तु ऐसा जो कहा गया है कि ब्रह्म उभय लिंग वाला नहीं होसकता ? यह भी विरोध नहीं है क्योंकि आकार भेद उपाधि कृत है, अन्यथा भेद शास्त्र निर्विषय हो जायगा। यदि ऐसा [पूर्वपक्षी] कहे तो वह युक्त नहीं है, ऐसा हम कहते हैं। किससे ? प्रत्येक में ऐसा नहीं' ऐसा वचन होने से। प्रत्येक उपाधि भेद में

यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पु
यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतम
पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा) (बृ०उ०) ॥२

'और इस पृथिवी में जो तेजोमय और अ
मय पुरुष है और शरीर में जो यह तेजोमय
अमृतमय पुरुष है वह यही है जो कि यह आत
इत्यादि शास्त्र ब्रह्म के अभेद का ही श्रवण करा
इस लिए ब्रह्म का भिन्न आकार के साथ योगश
है ऐसा कहना शक्य नहीं है, क्योंकि भेद उपास
लिए है इस लिए अभेद में तात्पर्य है ॥ १२ ॥

"अपि चैवमेके" (ब्र० सू०) ॥३-२-१

और भेद दर्शन की निन्दा करके अभेद दर्शन
एक शाखा वाले श्रवण कराते हैं:—श्रुति

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंच
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्य
(क० उ०) ॥ ४-१

तथाऽन्यत्रापि 'भोक्ताभोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' (श्वे०उ०) ॥१-२१॥

मन से ही ब्रह्म को प्राप्त करना चाहिए ब्रह्म के सिवाय यहां कुछ नहीं है 'जो यहां भेद-सा देखते हैं वे मृत्यु परम्परा को प्राप्त होते हैं' उसी प्रकार अन्य शाखा वाले भी-भोक्ता-जीव भोग्य-अन्य सब और प्रेरिता अन्तर्यामी परमेश्वर का विचार कर 'जो कुछ मैंने कहा है वह सब त्रिविध ब्रह्म ही है' इस प्रकार भोग्य भोक्ता और नियन्ता स्वरूप में सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्म स्वरूप ही है ऐसा कहते हैं ॥१३॥ परन्तु साकार ब्रह्म का उपदेश करने वाली और निराकार ब्रह्म का उपदेश करने वाली श्रुतियों के रहते निराकार ब्रह्म का अवधारण किस प्रकार किया जाता है। साकार ब्रह्म का अवधारण क्यों नहीं किया जाता? ऐसी शंका होने पर उत्तर सूत्र पढते हैं—

॥अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्॥ ब्र०सू० ३-२-१४॥

रूपादि आकार से रहित ही ब्रह्म है ऐसा अवधारण

करना चाहिए, ब्रह्म रूपादि युक्त है ऐसा श्रव
नहीं करना चाहिए। किससे ? इससे कि श्रुति
में निराकार ब्रह्म हि प्रधान रूप से वर्णित है
'अस्थूलमनरावहस्वमदीर्घम्०' (बृ० ३-८
'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्०' (क०३-
मुक्तिको० २-७२) आकाशो वै नाम ना
रूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म० (छ
८-१४-१) दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्य
भ्यन्तरो ह्यजः। मुण्ड० २-१-३ तदे
दब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा
सर्वानुभूः० (बृ०२-५-१६)

'स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है दीर्घ नहीं
'वह शब्दरहित स्पर्श रहित रूप रहित और अवि
है' 'वह आकाश नाम और रूप का स्पष्टीकरण
वाला है, वे नाम और रूप जिसके भीतर

ब्रह्म है' स्वयं प्रकाश सर्व मूर्ति वर्जित बाह्य और भीतर रहित एवं जन्मरहित पुरुष है' 'वह ब्रह्म कारण तथा कार्य नहीं है, अन्तर तथा बाह्य नहीं है, यह आत्मा ब्रह्म सब अनुभव करता है' इत्यादि वाक्यों में निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्म तत्व प्रधान है। अन्य अर्थ प्रधान नहीं है। ऐसा "तत्तु समन्वयात्" ।।ब्र० सू० ।।१-१-४।। इस सूत्र में प्रतिष्ठापन किया गया है। इस लिए इस प्रकार के वाक्यों में यथाश्रुत निराकार ब्रह्म का ही अवधारण करना चाहिए। और अन्य वाक्य जो साकार ब्रह्म विषयक हैं, वे साकार ब्रह्म प्रधान नहीं हैं, उपासना विधि प्रधान है। उन में विरोध न हो तो यथा श्रुत (जैसे श्रुति में है वैसे) का आश्रय करना चाहिए। विरोध हो तो जिन में निराकार प्रधान है, वे वाक्य जिन में वह प्रधान नहीं है ऐसे वाक्यों की अपेक्षा से विशेष बलवान् हैं। यही विनिगमन में हेतु है। जिस से दोनों प्रकार के श्रुति वाक्यों के रहते निराकार ब्रह्म का ही अवधारण होता है, साकार का अवधारण नहीं

होता तो जो श्रुति वाक्य साकार ब्रह्म विषयक
उनकी क्या गति होगी ? इस पर कहते हैं ॥ ११

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ॥ब्र० सू० ३-२-२५॥

जैसे आकाश को व्याप्त करके रहने वाला
या चन्द्र का प्रकाश अंगुलि आदि उपाधि सम्बन्ध
अंगुलि आदि के सीधे या टेढे होने पर टेढा या सीधा
प्रतीत होता है वैसे ही ब्रह्म भी पृथिवी आदि उ
के सम्बन्ध से उन के आकार को प्राप्त हुआ-सा प्र
होता है, उनके आधार पर ब्रह्म के आकार विशे
उपदेश जो उपासना के लिए है, वह विरुद्ध नहीं है
इस प्रकार आकारवद् ब्रह्मविषयक वाक्य भी सफल
निष्प्रयोजन नहीं होंगे, क्योंकि 'वेद वाक्यों में
वाक्य सार्थक है और कोई निरर्थक है' ऐसा सम
युक्त नहीं है, क्योंकि दोनों में प्रमाणत्व समान
परन्तु ऐसा मानने पर पूर्व में जो यह प्रतिज्ञा की
है कि उपाधि के योग से ब्रह्म उभय लिंग वाला
है उसका विरोध होगा। हम कहते हैं कि नहीं, क्यों

जिस का निमित्त उपाधि है वह वस्तु धर्म हो यह युक्त नहीं है क्योंकि उपाधियां अविद्या से खड़ी की गई हैं। नैसर्गिक अविद्या के होने पर ही लौकिक या वैदिक व्यवहार का अवतार होता है-ऐसा हमें जगह जगह पर मिलता है ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ ब्र० सू० ॥३-२-१६॥

और ब्रह्म चैतन्यमात्र विलक्षण रूपान्तर से रहित और निर्विशेष है, ऐसा श्रुति कहती है—

स यथा सैन्धव घनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव ॥बृ० ॥४-५-१३॥

जैसे लवणपिण्ड अन्दर और बाहर अन्य रस से रहित है समस्त लवण एक रस ही है, वैसे ही हे मैत्रेयि ! यह आत्मा अन्दर और बाहर अन्य रूप से रहित है, सम्पूर्ण प्रज्ञान घन ही है।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥३-२-१७॥

और "अर्थात् आदेशो नेति नेति" 'दोनों रूपों

के व्याख्यान के अनन्तर उसके ब्रह्म ज्ञान के हेतु
से ब्रह्म मूर्त्त नहीं है और अमूर्त्त भी नहीं
यह उपदेश है' ।

अन्यदेवतद्विदितादथो अविदितादधि
॥ के० १-३

वह विदित व्यक्त कार्य और अविदित अ
कारण इन दोनों से ही विलक्षण है ।

"यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा स
॥ तै० ॥ २-४-१

जहां से वाणी मन के साथ पहुंचे बिना
आती है, इत्यादि श्रुतियां पर रूप के अनात्म
प्रतिषेध से ही ब्रह्म को दिखलाती हैं, निर्विशेष
वाष्कलि से पूछे गये वाध्व ने अवचन
ब्रह्म स्वरूप कहा—

स होवाचाधीहि भगवो ब्रह्म इति स तू
बभूव इत्याद्य उपशान्तोऽयमात्मा इति ।

उसने कहा- हे भगवन् वाध्व ! मुझे ब्र

उपदेश कीजिए, ऐसा पूछने पर भी वह चुप रहा, दूसरी या तीसरी बार पूछने पर उसने उससे कहा— 'हम कह रहे हैं परन्तु तुम उसे नहीं समझ रहे हो। यह आत्मा उपशान्त है'। इसी प्रकार स्मृतियों में भी अन्य के प्रतिषेध से ही उसका उपदेश किया गया है—

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
॥गीता॥ १३-१२ ॥

'जो ज्ञेय है उसे यथावत् कहूँगा जिसे जान कर पुरुष मोक्ष का उपभोग करता है। पुनः मरण नहीं पाता। वह परब्रह्म अनादि है। यह सत् या असत् नहीं कहा जाता' इत्यादि में। और विश्वरूप धारण करने वाले नारायण ने नारद से कहा—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥इति॥

हे नारद। मैंने यह माया रची है, जोकि तुम मुझे

सर्व भूत गुणों से युक्त देखते हो, इस को मेरा य
वास्तविक रूप समझना तुम्हारे लिए उचित नहीं है
ऐसी स्मृति है ॥१७॥

अमूर्त्तताऽतिसूक्ष्मेऽत्र समाप्ता मूलकारणे।
मूर्त्तत्वमप्यतिस्थूले कार्ये ह्यन्ते समाप्यते॥

अति सूक्ष्म मूल कारण अव्याकृत जो आकाश श
वाच्य है उसी में निरवयव अमृतत्व सर्व कार्य व्या
परोक्षत्व है अतः अमूर्त्त लक्षण का मुख्य लक्ष्य व
है, एवं मूर्त्तत्व लक्षण का मुख्य लक्ष्य अति स्थू
अन्त्य पृथिवी ही है। शेष मध्यम गोलादि है॥

सारासारयुते रूपे मूर्त्तामूर्त्तो उदीरिते।
अरूपं ब्रह्मरूपाभ्यां व्यवहारे निरूप्यते॥
॥वृ० वा० सार २-३-२१॥

मूर्त्त और अमूर्त्त का निरूपण किया गया तथा उ
दोनों में सार और असार का भी विशेष रूप
निरूपण किया गया। यद्यपि ब्रह्म स्वतः अरूप है

तो भी अविद्यारोपित इन्हीं दोनों रूपों से व्यवहार दशा में निरूपित होता है। इससे जो विद्वान् यह कहते हैं कि उक्त श्रुति से अरूप निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं होता, क्योंकि श्रुति स्पष्ट रूप से मूर्त्तामूर्तादि—स्वरूप का बोधन कराती है, अतः सविशेष ही ब्रह्म श्रुति को सम्मत है निर्विशेष नहीं, उन का मत ठीक नहीं है, क्योंकि यहां औपाधिक स्वरूप का उपासना के लिए निर्देश है, वास्तविक स्वरूप का नहीं, "योषा वाव गोतमाग्निः" इत्यादि के समान यहां भी आरोपित रूप से उपासना के लिए उक्त रूप का निर्देश है, अन्य वाक्य से स्वरूप सत्ता की निश्चिति सर्वत्र मानी जाती है ॥२१॥

मूर्त्तामूर्त्तप्रपञ्चश्च वासना चेति वा द्वयम् ।
सवासनमिदं रूपमनिदं चेति वा द्वयम् ॥
॥बृ॰ वा॰ सार २-३-५॥

स्थूल सूक्ष्म पृथिव्यादि भूत और वासनायें ये दो रूप ब्रह्म के विवक्षित है, अथवा वासना सहित जड़ और

अजड़। 'इदम्' से प्रथम और अनिदं से अजड़ वि
चित है। अन्तिम अर्थ भाष्यसम्मत है। पृथिवी आ
पांच भूतों से जन्य शरीर इन्द्रिय आदि से संबद्ध मूर्त
मूर्त्त नामक वासना से सहित सर्वज्ञ और सर्वशक्ति
समन्वित ब्रह्म का एक रूप है, यही सोपाख्य कहाजा
है। और सोपाख्य ही सकल व्यवहार का वि
है, तथा कारणत्व ज्ञातृत्व प्रमाण–प्रमेयत्व अधि
देवतात्व अधिष्ठेय–इन्द्रियादिमत्व अन्तर्यामितृत्व सा
त्व असर्वज्ञत्व इत्यादि सकल धर्म व्यवहार में
अप्रमेय ब्रह्म में अविद्या सद्भाव दशा में प्रतीत होते
वे सब सोपाख्य ब्रह्म के ही धर्म माने जाते हैं
ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न होने पर उक्त सब धर्मों के स
अविद्या भी निवृत्त हो जाती है, तब (यतो वा
निवर्तन्ते) इत्यादि श्रुति के अनुसार ब्रह्म स
धर्मातीत शुद्ध माना जाता है, और उसी के ज्ञान
मोक्ष होता है। जिसका हम निरूपण कहते हैं।

सवासनं जगत् सर्वं तत्रेदं रूपमीरितं

च्च त्यच्चेति सत्यं तत् प्रोच्यते पाञ्चभौतिकम् ॥
बृ० वा० सार ॥ २-३-६६ ॥

ब्रह्म के रूप वे हैं जो द्वैत कहलाते हैं—एक सत् और दूसरा त्यत् । यह दोनों पदार्थ उक्त रीति से पञ्चभूत के वाचक हैं—तीन मूर्त्त और दो अमूर्त्तों के । अनिदं पदार्थ का अब निरूपण करने का अवसर आया है,इस लिए अब अनिदं पदार्थका निरूपण करेंगे ॥६६॥

यथा श्रुतिः

अथात आदेशो नेति नेति न ह्यत-स्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ बृ० उ० ॥२-३-६॥

ब्र०सू० ३-२-२२ में भगवान् भाष्यकार लिखते हैं ।

तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति०

यहां परब्रह्म के कल्पित रूप का प्रत्याख्यान

करके स्वरूपका यह आवेदन है ऐसा निर्णय हो
क्योंकि तद्विषयक इस समस्त कार्य का 'नेति नेति'
प्रकार प्रतिषेध किया है। और 'वाचारम्भण०'
ही जिसकी आरम्भक है) आदि शब्द से कार्य
असत्ता उचित है, अतः उसका प्रतिषेध हो सकता
परन्तु ब्रह्म का प्रतिषेध नहीं हो सकता, क्योंकि
सब कल्पनाओं का मूल है। और शास्त्र ही ब्रह्म
दो रूप दिखलाकर आप ही उनका प्रतिषेध करे
है क्योंकि "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं
(कीचड़ को शरीर में लगाकर धोने की अपेक्षा
दूर रहना उसका स्पर्श न करना ही अधिक
है) यहां पर ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये,
यह शास्त्र ब्रह्म के दो रूपों का प्रतिपाद्य रूप से
नहीं करता, किन्तु लोकप्रसिद्ध जो ये दो रूप
कल्पित हैं उनका प्रतिषेध है। ऐसा दिखलाने के
और शुद्ध ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन करने के
परामर्श करता है इस प्रकार कोई दोष नहीं है।
ये दो प्रतिषेध यथासंख्यन्याय से दो मूर्त और

रूपों का प्रतिषेध करते हैं। अथवा पूर्व प्रतिषेध भूत राशि का प्रतिषेध करता है और उत्तर प्रतिषेध वासना राशि का प्रतिषेध करता है। अथवा 'नेति नेति' यह वीप्सा है।

मूर्त्तं वा यदि वाऽमूर्त्तमज्ञानं वासनाथवा ॥
अध्यात्ममधिदैवं वा तत्सर्वं प्रतिषिध्यते ॥
बृ० वा० ॥२-३-७०॥

मूर्त्त, अमूर्त्त, अज्ञान अथवा वासना आदि अध्यात्म और अधिदैवत भेद से भिन्न जो कुछ है उस सब के प्रतिषेध करने के लिये वीप्सा की गई है ॥७०॥

सर्वं प्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते ॥
प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते ॥
बृ०वा० ॥ २-३-८३ ॥

सर्व प्रत्ययवेद्य ब्रह्मस्वरूप स्वयं व्यवस्थित है' उसके साधन या ज्ञापन के लिए वेदान्त की आवश्यकता नहीं है, किन्तु आवश्यकता है प्रपंच

के विलयकी। अतः उक्त शास्त्र प्रपंच विलयके लिए है, अन्य पर्थके लिए नहीं।

इत्येवमनिदंरूपं ब्रह्मणः प्रतिपादितम्
निर्नाम्नस्तस्य नामैतत्सत्यसत्यमितिश्रुतम्
वृ० वा० ॥ १३

'न इदं रूपमनिदंरूपम्' 'क इत्था वेद यत्र सः' इ
श्रुतियों से प्रतीत होता है कि ब्रह्मका स्वरूप इ
दिका अविषय है। इस लिए ब्रह्म अनिदंरूप
जाता है वस्तुतः ब्रह्मका कोई नाम नहीं है क्या
वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध सविशेष में ही हो
ब्रह्म में कोई जाति आदि धर्म नहीं अतएव
होने से वह अनाम माना जाता है। फि
शब्द के विना उसका व्यवहार नहीं होता
लिए व्यवहारार्थ सत्य सत्य यह नाम उसका रख
है। जैसे अङ्गुलियों का अङ्गुष्ठ आदि तत् तत्
है। परन्तु अनामिका का नाम पूछने पर उसका
नाम नहीं है, इस अभिप्राय से कहा गया कि

अनामिका है, परन्तु अब इसका अनामिका यही नाम हो गया है, वैसे ब्रह्म अनामरूप है। नामरूप प्रपंच के अन्तर्गत है अथवा वही प्रपंच है। यद्यपि ब्रह्म प्रपंच से रहित है इस लिए अनाम रूप ही माना जाता है तथापि व्यवहारार्थ सत्य सत्य कहा गया है॥२-३-१०६॥

अवाङ्मनसगम्यस्य न निषेधमुखं विना॥
अस्त्यन्यो मुख्य आदेशो निषेधो युज्यते ततः॥ वृ० वा०

अर्थ अति स्पष्ट है।

॥ कवित्त नं ६ ॥

विधि और निषेध भेद वादी को देते खेद,
वेद में अभेद कर्म लिंग नहीं आया है॥
वाणी जिसको कहे नहीं चक्षुसे देख सके
देवतादि तप से भी नहीं दरशाया है॥

ग्रहण और त्याग से बेलाग भाग्यवान् कलना रहित ध्यान में स्वरूप को लख है ॥ सत्यासत्यवाद त्याग कोई पत्त नहीं रामाश्रमतूरीय पद तूष्णीं ही बताया है

* भेदवादियों के विहित और निषेध कर्म क्लेश कब

नवेति चेत् स्वमात्मानं देहात्मत्वभ्रमा भोक्तुस्तस्यैव भोगाय भोगमिच्छन्ननुज्ञ

॥बृ० वा० ४-४-२७४

अहं गौरः कृशः इत्यादि देहात्म विभ्रम जो पुरुष वस्तुतः आत्मा को नहीं जानता, वही कर्ता के भोग सम्पादन के लिए शरीर को आश करता है, अर्थात् अन्तःकरण भोक्ता को आत्मा कर विहित और प्रतिषिद्ध नाना क्रियाएं करता 'क्लिष्टं कर्म' न्याय से कर्ममात्र क्लेशकर होता

॥

वेद में अभेद ज्ञान कर्मांग नहीं है यह दिखाते

॥ पुरुषार्थो ऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥
ब्र०सू० ३-४-१॥

आचार्य बादरायण का मत है कि इसी औपनिषद् आत्म ज्ञान से मोक्ष रूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है। क्योंकि—"तरति शोकमात्मवित् छां० ७-१-३" आत्मवेत्ता शोक का अतिक्रमण करता है। स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति० (मुं० ३-२-६) जो कोई उस परम ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है) ब्रह्मविदाप्नोति परम्० तै० ॥२-१-१॥ ब्रह्मज्ञ परब्रह्म को प्राप्त होता है। इत्यादि श्रुतियां केवल विद्या—आत्म ज्ञान ही पुरुषार्थ हेतु है ऐसा श्रवण कराती हैं ॥१॥

स्थूणानिखननवत्) खूँटे को हिला २ कर दृढ़ करने के समान यहां शंका करते हैं।

"आचार दर्शनात्" ब्र०सू० ३-४-३॥

जनको ह वैदेहो बहु दक्षिणेन यज्ञेनेजे॰ (
३-१-१॥ विदेह देशके अधिपति जनक ने बड़े
दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ किया॥ यक्ष्यमाणो वै
वन्तो ऽहमस्मि॰(छां॰ ५-११-१५) हे
ऋषि वृन्द ! मैं यज्ञ करने चला हूं ॥ इत्यादि
वाक्यों में भी ब्रह्म वेत्ताओं के कर्म सम्बन्ध दर्शन
हैं। केवल ज्ञान से यदि पुरुषार्थ की सिद्धि होती
विद्वानों द्वारा अनेक आयास युक्त कर्म क्यों किये
क्योंकि—अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्व
व्रजेत्॰ इति न्यायात्) घर के कोने में मधु
जाय तो पर्वत पर जाने की क्या आवश्यकता है!
न्याय है ॥३॥ इसपर कहते हैं —

'तुल्यं तु दर्शनम्' ब्र॰सू॰ ३-४-९॥ तु
अकर्म शेष को बतलाने वाला लिंग बलवान है,
सूचित करता है। आचार देखने से विद्या कर्मांग
ऐसा जो कहा गया है, उसपर हम कहते हैं—
कर्मांग नहीं है, इसमें भी आचारदर्शन तुल्य

क्योंकि—"एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे०।"(यह जानकर कवषयके पुत्रर्षियोंने कहा 'हम अध्ययन किस लिये करेंगे ? हम यज्ञ किस लिए करेंगे? निस्सन्देह' इस वाक् और प्राणके परस्पर होमात्मक अग्निहोत्र को जानने वाले प्राचीन उपासकोंने अग्नि होत्रहोम नहीं किया था' इत्यादि श्रुतियां हैं और(यक्ष्यमाणो वै०) हे पूज्य ऋषियो' मैं यज्ञ करने वाला हूं' यह लिङ्ग दर्शन वैश्वानर विद्या विषयक है। और सोपाधिक ब्रह्म विद्या में कर्म साहित्य का दर्शन होसकता है, परन्तु यहां पर भी विद्या में कर्माङ्गता नहीं है क्योंकि प्रकरण आदि का अभाव है ॥६॥

(शङ्का) ॥तच्छ्रुतेः॥ ३-४-४॥

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति; (छां० १-१-१०)जिस कर्म को विद्या से श्रद्धासे और उपनिषत्से करता है, वही कर्म वीर्य-

वत्तर होता है। अविद्वान् के कर्म से अधिक फल
होता है। इस प्रकार कर्म के अंगरूपसे विद्याका
होनेसे केवल —कर्मरहित विद्या पुरुषार्थकी हेतु
है॥ इसपर कहते हैं—"असार्वत्रिकी" ब्र०
४-१० यदेव विद्यया करोति०। यह श्रुति सर्व
द्या विषयक नहीं है क्योंकि प्रकृत विद्या से सम्ब
(ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत० (छां०१
ओम् इस वर्णात्मक उद्गीथ को उपासना करें।
उद्गीथ विद्या प्रकृत है॥१०॥(पुनःशङ्का)

'समन्वारम्भणात्' ॥ब्र० सू० ३-४-५॥
तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते० (बृ० ४-४
परलोक में जाने वाले के पीछे विद्या और कर्म
इससे भी विद्या कर्म की अङ्ग है।५। इसपर कहते

'विभागः शतवत्'॥ब्र०सू० ३-४-११
तंविद्या कर्मणी०।यहां पर विद्या अन्य पुरुष का
गमन करती है और कर्म अन्य पुरुष का
करता है, इस प्रकार विभाग समझना चाहिये,

इन दो मनुष्यों को १००) सौ रुपये दिये जायें, ऐसा कहने पर विभाग कर के ५०) पचास २ दिये जाते हैं वैसे ही यहां पर भी समझना चाहिये । और यह सह गमन वचन मुमुक्षु विषयक नहीं है, क्योंकि श्रुतिः—(इति नु कामयमानः) बृ० ४-४-६ । इस प्रकार कामना करता हुआ पुरुष ही संसार को प्राप्त होता है । इस प्रकार संसारी विषयत्व का उपसंहार है । और अथाकामयमानः०(बृ०४-४-६) अब जो अकाम पुरुष है [वह मुक्त होता है] इस प्रकार मुमुक्षु का पृथक् उपकर्म है ॥११॥

(शङ्का) 'नियमाच्च' ब्र०सू० ३-४-७॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे
॥ईशा० ॥२॥

इस देह में अग्निहोत्र आदि कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे । इस प्रकार कर्म करते हुए जीने वाले नर मात्राभिमानी तुममें अशुभ कर्मका

लेप नहीं होगा इससे दूसरा श्रेय का प्रकार नहीं।
इस प्रकार नियम से भी विद्या कर्म शेष है ॥७॥
पर कहते हैं–॥नाविशेषात् ॥(ब्र०सू० ३-४
कुर्वन्नेवेह कर्माणि०) इत्यादि वाक्य तत्त्वज्ञानी
रुप को विषय नहीं करता क्योंकि 'विद्वान्' इस प्र
विशेष उस वाक्य में नहीं देखा जाता है ॥ १३॥

'स्तुतयेऽनुमतिर्वा' ब्र०सू० ३-४-१४॥
अथवा तत्त्ववित् के लिए जो कर्मानुज्ञा है वह के
स्तुत्यर्थ है अर्थात् विद्वान् होकर यदि जीवनपर्यन्त
कर्म करोगे, तो भी विद्याके सामर्थ्य से तुम में क
का लेप नहीं होगा, इस प्रकार विद्वान् की स्तुति इस
लिए है ॥१४॥

'कामकारेण चैके' ब्र० सू० ३-४-१५॥
और इससे भी विद्या कर्माङ्ग नहीं है, क्योंकि कि
ही विद्वान् जिन्हों ने विद्याके फलका प्रत्यक्ष किया है
वे विद्या के आधार से अन्य फल के साधन प्रजा आ
दि में स्वेच्छा से प्रयोजनका अभाव देखते हैं–वे अन्य
फल के साधन पुत्र आदिको व्यर्थ समझते हैं।

एतद्ध स्म वै तत्सर्वें विद्वांसः प्रजां न काम-
यन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमा-
त्माऽयं लोकः । (बृ४-४-१२)

ऐसी वाजसनेयी शाखा वालों की श्रुति है, और यह विद्या फल अनुभव से सिद्ध होता है—प्रत्यक्ष है, क्रिया फल के समान अन्य काल में होने वाला नहीं है, ऐसा हम अनेक बार कह चुके हैं । इस से भी विद्या कर्म शेष नहीं है ॥१५॥

'वाणी जिसको कहे नहीं चक्षु से देख सके' इसका अर्थ करते हैं:—

'तदव्यक्तमाह हि' ॥ब्र॰ सू॰ ३-२-२३॥

वह अव्यक्त है, इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह सब दृश्य का साक्षी है और उस अर्थ को श्रुति भी कहती है—"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा" (मुण्ड॰ ३-१-८ आत्मा का नेत्र से ग्रहण नहीं किया जाता, वाणी से भी

उसका ग्रहण नहीं होता है, अन्य देवों से—इन्द्रि
से वह गृहीत नहीं होता, तप या कर्म से उसका ग्र
नहीं होता। "स एष नेतिनेत्यात्माऽगृह्यो न
गृह्यते॰ (बृ॰३ ६-२६) वह यह नहीं, नहीं,
प्रकार मधुकाण्ड में निर्दिष्ट आत्मा अग्राह्य है,
उसका ग्रहण नहीं किया जाता। यत्तदद्रेश्यम
ह्यम्॰ (मुण्ड॰ १-१-६) जो अदृश्य सब
इन्द्रियों से अगम्य है वह अग्राह्य—कर्मेन्द्रियों
अविषय है। अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविका
अयमुच्यते॰(गी॰२-२५) यह अव्यक्त
अचिन्त्य है और यह अविकार्य कहलाता है
स्मृति भी कहती है ॥२२॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्
॥ब्र॰ सू॰ ३-२

समस्त प्रपञ्च से शून्य और अव्यक्त इस
को योगी लोग संराधन समय में देखते हैं

भक्ति, ध्यान, प्रणिधान आदिका अनुष्ठान। संराधन समय में योगी लोग परमात्मा को देखते हैं, यह कैसे समझा जाता है? प्रत्यक्ष और अनुमान से श्रुति और स्मृति से (जाना जाता है) ऐसा अर्थ है, क्योंकि यह श्रुति है:—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्
पश्यति नान्तरात्मन कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान
मैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्व मिच्छन्॥
॥कठ० २-४-१॥

स्वयंभू (ब्रह्मा) ने छिद्रोपलक्षित इन्द्रियों की हिंसा की अर्थात् अनात्म पदार्थों में उनका समर्पण किया। इससे जीव बाह्य अर्थको ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता। जिस की नेत्रादि इन्द्रियां विषयों से व्यावृत्त हो गई हैं ऐसा अमृत को चाहने वाला कोई धीर विवेकी पुरुष प्रत्यागात्मा को देखता है।

ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तुतं पश्यते-

निष्कलं ध्यायमानः ।

॥मुण्ड॰ ३-१-

ज्ञान की निर्मलता से जिसका अन्त
विशुद्ध हुआ है वह ध्यान करता हुआ सब अवयव
से वर्जित आत्मा को देखता है । यथा स्मृतिः-

यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रि
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने

निद्रा रहित श्वास को जीते हुए मनुष्य
की इन्द्रियां संयम में हैं ध्यान करते हुए जिस
को देखते हैं उस योगलभ्य आत्मा को नमस्कार
उस सनातन भगवान् को योगी सम्यक रूप से
हैं । इस प्रकार की स्मृतियां भी हैं ॥२४॥

(शंका) संराध्य और संराधक भाव मानने
दोनों में भेद होगा ? (समाधान)

एवं सत्यविरोधः स्याद् भेदा भेदार्थ वाक्य
योऽर्थमित्युत्तरे शब्दद्वयमेवं विचार्य

॥बृ॰ वा॰ ४-३-

शास्त्र की दृष्टि से अभेद और लोकदृष्टिसे भेद है इस अर्थ का बोध करने वाले दो वाक्यों में विरोध नहीं। (कवित० नं० ८ में) प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम्॥ इस सूत्र में, भेद काल्पनिक है और अभेद पारमार्थिक है॥ सूत्र १५॥

न देशकालासनदिग्यमादिलक्ष्याद्यपेक्षा प्रतिवद्धवृत्तेः संसिद्धतत्त्वस्य महात्मनोऽस्ति स्ववेदने का नियमाद्यपेक्षा।

जिस महात्मा का आत्मतत्त्व सिद्ध हुआ है और चित्त की वृत्ति प्रतिवद्ध हुई है उस के लिये देश काल आसन दिशा यम नियम आदि ध्यान की सामग्री अपेक्षित नहीं है क्योंकि यम नियम आदि का फल ब्रह्मज्ञानहै सो ज्ञान यदि हो गया तो ये सब व्यर्थ हैं इसी को तुरीया कहते हैं और मन वाणी का अगोचर है॥९॥

॥कवित नं० १०॥ अपूर्वता फल

शुद्ध आचार और विचार अनाचार सब से

रूप है विलक्षण तेरा वेदों में गाया है
वस्तु के आधीन बोध कर्म के आधीन
धर्म और ध्यान पुरुषाधीन बतलाया है
सदेह से कर्म फल दुःख सुख भागी
विदेह से व्यवहार में लोप नहीं आया है
सत्य पद पाये पीछे कर्तव्य का ताप
रामाश्रम तुरीय पद तूष्णीं ही बताया है

श्रुतिः— अत्र पिताऽपिता भवति मा-ऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वे-अवेदाः० ॥उ०४–३–२२॥ इस अवस्था में पिता अपिता हो जाता है, माता अ-हो जाती है, लोक अलोक हो जाते हैं, देव हो जाते हैं और वेद अवेद हो जाते हैं इत्यादि

॥श्रुतिः॥ अनन्वागतं पुण्येन नान्वा-पापेन तीर्णोहि तदा०(ब्र०४-३-२२) उस यह पुरुष पुण्य से असम्बद्ध तथा पाप से भी

स्नद्ध होता है और हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर जाता है ॥२२

सर्वेषामनुभूत्याऽपि प्रसिद्धः शोकसँचयः
तां प्रसिद्धिं हि शब्देन विशदीकुरुते श्रुतिः
॥वृ॰ वा॰ ४-३-२६४

सुषुप्ति में शोक आदि (आदि शब्द से शुद्ध आचार विचार अनाचार आदि तदाश्रित पुण्य पापादि) का संचय सर्वानुभवसिद्ध है इसमें किसी को विवाद नहींहै । श्रुतिस्थ 'हि' शब्द इस प्रसिद्धि का द्योतक है । हि' शब्द से श्रुति उक्त प्रसिद्धि को विशद करती है । सुषुप्ति में देह और देह धर्मों से रहित होना सब को स्फुट है इस अभिप्राय से बहुत उदाहरण दिये गये हैं । परन्तु जब सुषुप्ति में देह और देह धर्मों से रहित सब को अनुभव होता है, तो तुरीय में तो कहना ही क्या है । यह तो कैमुतिक न्याय से ही सिद्ध होता है कि आत्मा सब प्रकार के आचार और विचार से विलक्षण है इसी को आगे स्पष्ट रूप से कहते हैं:—

समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्म रूपता

॥सांख्य० द० ५-११

समाधि सुषुप्ति और मोक्ष में जीव को ब्रह्म
हो जाती है ॥११६॥

न कर्मणा कनीयस्ता वृद्धिर्वा नाऽन्तरात्म
इति बाहुमिवोद्धृत्य वेदान्तै घोषणा

॥४-३-३८

श्रुति हाथ उठाकर उच्चस्वर से यह घो
करती है कि आत्मा कर्म से यानी निषिद्ध कर्मानु
से छोटा नहीं होता और विहित कर्मानुष्ठान से
भी नहीं होता, इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि
का विषय नहीं है ॥३८०॥

इतिमत्वा कुर्वते ये कर्मच्छिद्रेषु सन्तति
नूनं ते नासिकाग्रेण वीक्षन्तेसूर्य मण्ड

॥बृ० वा० १-४-११

यह समझ कर जो पुरुष कर्म करने के
सन्तति करते हैं, वे लोग सचमुच घ्राण (

इन्द्रिय से सूर्य मण्डल का दर्शन करना चाहते हैं।
॥१११७॥

वस्तु तन्त्रा तत्त्वविद्या नृतन्त्रा नैव तेन सा
नृभि: कर्तुमकर्तुं वा स्वेच्छया नैव शक्यते
॥वृ० वा० सार १-४-१११८॥

तत्त्व विद्या तो वस्तु के आधीन है पुरुष के आधीन नहीं है, इस लिये पुरुष अपनी इच्छा से कर्तुम् (करने के लिये) और अकर्तुम् (न करने के लिये) समर्थ नहीं है ॥१११८॥

(तत्तु समन्वयात्) ॥ब्र० सू० १–१–४॥
इस सूत्र में भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य लिखते हैं:–

ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम् प्रमाणं च यथाभूत-
वस्तु विषयम्, अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा
वा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तुतन्त्र मेवतत:
न चोदना तन्त्राम् नापिपुरुष तन्त्राम्, तस्मात
मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्।

ज्ञान तो प्रमाण जन्य है प्रमाण वस्तुके य
स्वरूप को ग्रहण करता है। इस लिये ज्ञान क
करने अथवा अन्य प्रकार से करने योग्य नहीं
सकता, क्योंकि वह केवल वस्तु के आधीन है।
के योग्य नहीं है और पुरुष के आधीन भी नहीं
अतः ज्ञान के मानसिक होने पर भी ध्यान से
बड़ा भेद है।

यथा च "पुरुषो वाव गौतमाग्निः"
वाव गौतमाग्निः० छां० ५-७-८-१। इ
योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति, के
चोदनाजन्यत्वात् क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा
यातु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिर्नसा चो
तन्त्रा, नापि पुरुष तन्त्रा, किं तर्हि ?
त्तविषयवस्तु तन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतत्,
क्रिया। एवं सर्वप्रमाण विषयवस्तुषु वे
व्यम्।

जैसे, हे गौतम ! पुरुष अग्नि है। हे गौतम ! स्त्री अग्नि है। इसमें (स्त्री और पुरुष में) अग्नि बुद्धि मानसिक है। वह केवल विधिजन्य होने के कारण क्रिया ही है और पुरुष के आधीन है प्रसिद्ध अग्नि में जो अग्नि बुद्धि होती है वह न तो विधि के आधीन है और न पुरुष के आधीन है, किन्तु प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु (अग्नि) के आधीन है, अतः ज्ञान ही है, क्रिया नहीं है। इसी प्रकार सब प्रमाणों के अर्थात् अनुमान शब्द आदि प्रमाणों के विषय में समझना चाहिये। अब सशरीर और अशरीर का श्रुति प्रमाण लिखते हैंः—

एवमविद्यादि दोषवतां धर्माधर्मतारतम्य निमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःख तारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्याय-प्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः—"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति०(छां० ८-१२-१। इस प्रकार अविद्या आदि दोष वालों

के धर्म और अधर्म के तारतम्य से शरीर
पूर्वक उत्पन्न हुए सुख-दुःख का तारतम्य
और संसाररूप है, ऐसा श्रुति स्मृति और न्या
प्रसिद्ध है। श्रुति यह है (सशरीर आत्मा के
और दुःख का विनाश नहीं होता है।

"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृश
॥छां० ८-१२।

प्रिय और अप्रिय वस्तुतः शरीर-रहित
का स्पर्श नहीं करते।

विदेह से व्यवहार में लोप नहीं—यह
श्रुति से सिद्ध होता है।

श्रुतिः—स उत्तमः पुरुषः स तत्रपर्येति
क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञाति
नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं सयथा प्र
आचरणे युक्तः ॥छां० ८-१२-

वह उत्तम पुरुष है। उस अवस्था में वह

क्रीडा करता और स्त्री, यान अथवा ज्ञाति जन के साथ रमण करता है और अपने साथ उत्पन्न हुए इस शरीर को स्मरण न करता हुआ सब ओर विचरता है ॥३॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति
एतँ ह वाव न तपति । किमहँ साधु नाकरवम् ।
किमहं पापमकरवमिति । स य एवं विद्वानेते
आत्मानँ स्पृणु । उभे ह्येवैष एते आत्मानँ
स्पृणुते । य एवं वेद० ॥तै० उ०२-६-१॥

जहाँ से मनके सहित वाणी उसे प्राप्त न करके लौट आती है उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला किसी से भी भयभीत नहीं होता है । उस विद्वान् को मैंने शुभ क्यों नहीं किया ? 'पाप कर्म क्यों कर डाला ?—इस प्रकार की चिन्ता सन्तप्त नहीं करती । उन्हें [ये पाप और पुण्य ही ताप के कारण हैं] इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् अपनी आत्मा को

प्रसन्न अथवा सफल करता है उसे ये दोनों आ
स्वरूप ही दिखाई देते हैं। [वह कौन है] जो
प्रकार (पूर्वोक्त अद्वैत आनन्द स्वरूप) ब्रह्म
जानता है ॥१॥

श्रुतिः– नैनं कृताकृते तपतः ॥वृ० ४-४-२
सोऽहमात्मेति विज्ञाते कर्मणोऽवसरः कु
कृते देहादिभिस्ते द्वे अकृते वा द्विधाऽपि
॥वृ० वा० ४·४·४४

शरीरातिरिक्त आत्मदर्शी को कृत अथवा
दोनों यानी पुण्य और पाप ताप नहीं देते ॥इति॥

उपपत्ति ॥कवित नं० ११॥ (दृष्टांत प्र

शुक्ति की रजत के भूषण कहीं देखे
रज्जु के सर्प को कहो कौन खाया है॥
मरीचिका के जल से कहो किसी की
प्यास ? ठूंठ के चोर ने लूटी कौन माया
भ्रान्ति से जगत् ऐसे आत्मा में भास

विना अधिष्ठान भ्रम दृष्टि नहीं आया है ।
प्रलय नहीं सृष्टि विना बन्धमोक्ष होवें किसे
रामाश्रम तुरियपद तूष्णीं ही बताया है।

अद्वैते द्वैतविभ्रान्तिं द्वैते सत्यत्वविभ्रमम्
आपादयेदियं माया रज्जुसर्पो यथा तथा
॥वृ० वा० सार ४-१॥प्र० प०॥

श्री स्वामी विद्यारण्य जी 'वार्तिक सार प्रामाण्य परीक्षा' में लिखते हैं—अद्वैत में द्वैत भ्रान्ति और द्वैत में सत्यत्व भ्रान्ति माया के प्रभाव से होती है । जैसा कि रज्जु में सर्प भ्रान्ति और उसमें सत्यत्व भ्रान्ति अन्धकार दोष से होती है । इन दोनों भ्रान्तियों के विकास के लिये दो प्रकार की माया मानी गई है ॥४०८

रज्जौ सर्पत्वमारोप्य सर्पेऽस्मिन् रज्जुसत्यताम्॥
सम्बन्धयति तेनाऽयं सत्यः सर्प इवीक्ष्यते॥
॥४१०॥

रज्जु में सर्प का आरोप कर उस आ
सर्प में सत्यता का सम्बन्ध माया करती है,
भ्रमकाल में रज्जु सर्प सत्य प्रतीत होता है,
विक सर्प तो है नहीं अन्यथा 'इयं रज्जुः' इस
से उसकी निवृत्ति न होगी ॥४१०॥

तथैव ब्रह्म सत्यत्वं द्वैत सम्बद्धमीरयेना
अतो द्वैतमिदं सत्यमिति मूढैर्विनिश्चितम
॥४११

दार्ष्टान्तिक में उक्त अर्थ का समन्वय
है—उक्त रीति से माया द्वैत की प्रतीति कराती
और द्वैत में रज्जु के सर्प के सत्यत्व के
अधिष्ठान ब्रह्म के सत्यत्व का आरोप करती है,
कारण मूढ लोग द्वैत को सत्य मानते हैं॥४११॥

धर्मिण्येव प्रमाणं सदपि ज्ञानविमूढ
रजतग्राहकं मानमिति विद्याद्यथा तथा ॥
॥वृ० वा० प्रमेय

शुक्ति में 'इदं रजतम्' इत्याकारक ज्ञान

धर्मी इदमंश में प्रमाण होने पर भी रजतांश में अप्र-
माण है, फिर भी मूढबुद्धि मनुष्य रजतांश में भी
उसे प्रमाण मानते हैं।

आरोपितं नाश्रयदूषकं भवेत्
कदापि मूढैर्मतिदोषदूषितैः—
नार्द्रीकरोत्यूषरभूमिभागं
मरीचिका वारिमहाप्रवाहः॥वि० चू० ४६६।,

जैसे भ्रम से मृगतृष्णिका में जो जल प्रवाहका बोध होता है। उस आरोपित जल प्रवाह से ऊपर भूमि कभी सिक्त (गीली) नहीं हो सकती वैसे अत्यन्त दोष से दुखित मूढजनों से ब्रह्म में आरोपित जो संसार है सो संसाराश्रय जो ब्रह्म है उनको अपने दोष से दुखित नहीं कर सकता ॥४६६॥

ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी
श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा
तस्मादेतद्ब्रह्ममात्रं हि विश्वं
नाधिष्ठानाद्भिन्नतारोपितस्य ॥वि० चू० २३३॥

सब से श्रेष्ठ जो अथर्वण वेद वाणी है कहती है कि सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय है इस लिए विश्व ब्रह्म से भिन्न नहीं है जैसे रज्जु में जो सर्प आरोप होता है वह आरोपित सर्प रज्जु से भिन्न है तैसे ब्रह्म में जो अज्ञान से संसार का आरोप है यह आरोपित संसार भी ब्रह्म से भिन्न है॥२३३॥

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी रामायण का काण्ड में लिखते हैं ।दोहा॥

रजत सीपमहँ भास जिमि, यथा भानुकर वा
यद्यपि मृषा तिहुं काल सोई, भ्रम न स
कोउ टा

❀ चौपाई ❀

इहि विधि जग हरि आश्रित रहई।
यद्यपि असत्य देत दुःख अहई॥

तथ च श्रुति—:

आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी
सकलामलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी
नास्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठति न तिष्ठति
न च याति न चायति न च नेह न चेह चित्
सैषा चिदमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा
महो०॥ ५-१०१ ॥ ५-१०३ ॥

जो ब्रह्मज्ञानी की दृष्टिमें आकाशसे भी सौगुनी स्वच्छ निर्मल तथा निष्कल रूप (अवयवरहित) है, एवं जो निर्मल संसारके रूपमें अपनाही दर्शन कराती है– वह चित चैतन्यसत्ता न अस्त होती है न उदय होती है न उठती है न स्थिर– रहती है न जाती है न आती है न यहां है और न यहां नहीं है, वह चित् अर्थात् चैतन्य सत्ता विकल्प रहित निरालम्ब और निर्मल स्वरूप वाली है ॥१०३॥

वद्धेन मनसा वद्धो मुक्तो मुक्तेन चेत
न बद्धो न च मुक्तोऽयमिति वेदान्तनिर्ण

॥बोधसार

बन्धे हुए मन से बद्ध, मुक्त मन से मुक्त है
है न बन्धा हुआ है न मुक्त है यही वेदान्त
अन्तिम निर्णय है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थत

गौ० का० २-३

न प्रलय है न उत्पत्ति ही है न कोई बद्ध है
साधक ही है न कोई मोक्ष की इच्छा वाले हैं न
मुक्त ही है यही परमार्थ है।

यहां पूर्व पक्षी कहता है

जो रज्जु अधिष्ठान है उस को तो यह भ्र
नहीं होता कि मैं सर्प हूँ यह भ्रम दूसरे को होता
ऐसा सब दृष्टान्तों में जान लेना और इस जगत

आधिष्ठान जो शुद्ध आत्मा है उस से दूसरा कौन है जिस को यह भ्रम भासता है ? ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं ।

॥ कवित्त नं० १२ ॥

मैं ही अधिष्ठान आप मुझ में मुझे भ्रम हुआ और द्वैत वस्तु नहीं जिसमें भ्रम पाया है ॥ जड़ हो आंधिष्ठान जहां दूसरे को भ्रम होवे चेतन अधिष्ठान वहां चेतन ही भ्रमाया है ॥ सोया तब एक और स्वप्न में अनेक द्वन्द्व जाग्या तबभी एक पाई निर्त्तोभ काया है ॥ ऐसेही अद्वितीय ब्रह्म एक रस रहै सदा, रामाश्रम तुरीय पद तूष्णीं ही बताया है ॥१२॥

यहां जो मूल में (मैं ही अधिष्ठान) 'मैं' शब्द आया है सो यह 'मैं' आत्मा का वाचक है (शङ्का) क्यों 'मैं' शब्द तो परिच्छिन्न है यह आत्मा का वाचक है ऐसी श्रुति तो नहीं है (उत्तर)

॥शास्त्र दृष्ट्या तूपपदेशो वामदेववत्॥
॥ब्र० सू० १-१-३०॥

सूत्र के भाष्यमें भगवान् शङ्कराचार्य जी लिखते हैं इन्द्रो नाम देवतात्मा स्वमात्मानं परमात्मत्वेन 'अहमेव परं ब्रह्म' इत्यार्षेण दर्शनेन यथा शास्त्रं पश्यन्नुपदिशतिस्म-मामेव विजानीहि०(कौ० १)'तदेतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहंमनुरभवं सूर्यश्च,इति। तद्वत्, 'तद्योयोदेवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्, ॥बृ० १-४ १० ॥ इति श्रुतेः। अपनी आत्मा को परमात्मारूपसे(मैं ही परब्रह्म हूँ इस तरह से आर्षदर्शन से शास्त्रानुसार देखकर इन्द्र नाम देवता ने'मुझकोही जान' ऐसा उपदेश किया है। कि-(उस ब्रह्मको आत्मारूपसे देखते हुए ऋषि वामदेव मैं मनु था मैं सूर्य था ऐसा ज्ञान प्राप्त किया)क्योंकि 'उन देवताओं में जिस जिसको आत्मज्ञान हुआ वह ब्रह्म हुआ वैसे ही जिस जिस ऋषिको तथा जिस मनुष्य को'आत्म ज्ञान हुआ वह ब्रह्म रूप हुआ है

श्रुति है। इस से मूलमें जो 'मैं' शब्द है वह आत्मा का वाचक है यह श्रुति सिद्ध है॥

व्याप्नोत्यनवशेषेण सर्पादीन्स्रगिवाऽखिलान्
कल्पनाधिष्ठानतया प्रत्यङ्ङात्माभवेत्ततः
॥बृ० वा० १-४- ५२७॥

जैसे माला सर्प भूच्छिद्र दण्डादि सब कल्पित पदार्थों को व्याप्त कर लेती है. वैसे ही सब कल्पनाओंका अधिष्ठान होने के कारण प्रत्येक ने सब पदार्थों को व्याप्त किया है, इस लिए वह आत्मा है॥ ५७६॥

सर्वाधिष्ठानसन्मात्र इत्यशेषजगत्प्रति॥
अधिष्ठानतया व्याप्ति श्रुतिर्ब्रूते सदाऽऽत्मन
बृ०वा० ॥ १-४-५८०॥

सबका अधिष्ठान सन्मात्र है, इस प्रकारकी श्रुति सबका अधिष्टान होने के कारण सब अनात्माओंमें आत्माकी व्याप्ति कहती है॥ ५८०॥

पर आत्मनि सर्वेऽपि सम्प्रतिष्ठन्त एकले

पृथिव्याद्याश्चनात्मान इति चाऽथर्वणे व

॥ वृ० वा० सार ५८

पृथ्वी आदि सब अनात्म पदार्थ उस एक परमा
में लीन हो जाते हैं, यह अथर्वण का वचन है ॥५८

अव्यावृत्ताननुगतः पूर्णः स्वात्मन्यवस्थित
यतो ऽस्य सन्ततोभावस्तस्मादात्मेति पठ्य

॥ वृ० वा० १-४-५८

क्योंकि यह किसीसे व्यावृत्त नहीं किसीमें अनु
नहीं है, पूर्ण है । अपने ही स्वरूप में स्थित
सर्वत्र विद्यमान है। इस लिए इसको आत्मा क
है ॥ ५८५ ॥ इत्यादि प्रमाणोंसे मैं आत्मा" ही
भ्रमोंका अधिष्ठान हूं और' मुझ चेतन रूप आत्मा
ही भ्रम हुआ है क्योंकि अचेतन जड़ को भ्रम
होता है।

(ननु) स्वयं ज्ञाता स्वयं ज्ञेयमित्येकस्मिन्कथं
नहि स्वकंधमारोढुं निपुणोऽपीह शक्नुया

॥वृ० वा० ८६

(शंका) आप ज्ञाता और आप ही ज्ञेय यों एक

दो प्रकार की कैसे हो सकती ? है क्योंकि निपुण मनुष्य भी अपने स्कन्धपर स्वयं आरोहण करने में समर्थ नहीं है ॥८६३॥

किमु तद् ब्रह्मावेद्य तस्मात्तत्सर्वमभवदिति इति श्रुतेः॥वृ० १-४-७॥

ब्रह्मने क्या जाना था ? जिससे वह सब होगया' ऐसा प्रश्न होनेपर सब दोष से रहित उत्तर श्रुति कहती है-

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावे-दहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्॥वृ१०-४-१०।

शरीरमें स्थित और यह सब जो ज्ञात होता है, वह बोधमें पहले भी ब्रह्म ही था, किंतु जीव अज्ञानसे 'मैं अब्रह्म हूं' 'मैं असर्व हूं' इत्यादि आत्मामें यह आरोप करता है वास्तवमें ब्रह्म ही है और इससे भिन्न सारा जगत भी ब्रह्म ही है। जब उसको दयालु आचार्य ने किसी प्रकार समझाया कि तुम संसारी नहीं हो तब उसने स्वाभाविक आत्मा को ही जाना (इस ऊपर की श्रुति से उस ऊपर की शंका का उत्तर देते हैं-

किमवेदिति वेद्यस्य य आक्षेप उदीरि
तं समाधित्सुराहैतत्तदात्मानमवेदिति ॥वृ०वा०
॥६६१

(किमवेत्) ब्रह्मने किसको जाना ? इस प्रकार
वेद्यका आक्षेप कहा गया है उसका समाधान करने
लिये कहते हैं (तदात्मानमवेत्) अर्थात् उसने आत्म
को ही जाना ॥

स्वरूपस्यैव वेद्यत्वे स्वस्कन्धारोहदूषण
यदुक्तं तदसत् तस्मात् सोपाधिर्वेदिता त
॥वृ०वा० ६६२

स्व रूपमें वेद्यत्वके होनेपर अपने ही स्कन्धपर आरोह
का जो दूषण कहा था वह समीचीन नहीं है क्योंकि
सोपाधिक ब्रह्म वेदिता (ज्ञाता) है ॥६६२॥

अवेत् सोपाधिआत्माऽयमात्मानं निरुपाधिक
ज्ञातृ ज्ञान ज्ञेयभेदान्न दोषोऽत्र मनाग
॥१-४-६६३

सोपाधिक आत्मा ने निरुपाधिक आत्मा को जाना, इसलिए ज्ञाता और ज्ञेय का भेद (ज्ञाता के सोपाधिक और ज्ञेयके निरुपाधिक) होनेसे किञ्चिन्मात्र भी दोप नहीं है ॥६६३॥

इसी प्रकार 'मैं' शुद्ध आत्मा रूप से संसार भ्रम का ऽधिष्ठान हूं और विज्ञानात्मा रूपसे मुझको ही भ्रम हुआ है इस तरह से किञ्चिन्मात्र भी दोप नहीं है॥

श्री गौडपादाचार्य जी कारिका में लिखते हैं—

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः
मायैषा तस्य देवस्य यया संहितःस्वयम्
॥ गौ० का० २-२६ ॥

यह जो इन प्राणादि अनन्त भावों से विकल्पित हो रहना है सो यह उस प्रकाशमय आत्मदेव की माया ही है जिससे कि वह स्वयं ही मोहित हो रहा है ॥१६॥

तात्पर्य यह है कि हम लोगों की जैसे सुषुप्ति अवस्था है वैसे ही सृष्टि पूर्व काल की अवस्था परमात्मा की सुषुप्ति अवस्था है। और हम लोगों की स्वप्नावस्था के समान प्रमात्मा की सृष्टि स्वप्नावस्था है सुषुप्तिमें कुछभान नहीं होता,स्वाप्निक भोग जनक अदृष्टवश पूर्वसंस्कार जब उद्‌बुद्ध होते हैं, तब मन का सन्निकर्ष आत्मा के साथ होता है।

मनमने यदि राज्य की कल्पना की, तो राज साम
तुरन्त उपस्थित हुई। शिकार खेलने की इच्छा हुई
जगंल पहाड़ दीख पड़ने लगे। जो जो कल्पना
करता गया सो सो सब उपस्थित होता गया तदु
भोग भी होने लगे, पर वास्तव में कुछ नहीं
जागने पर पूरा विश्वास होता है, कि उस अवस्था
भी केवल में ही था और जिन साधक बाधकोंको
देखते थे, वे नहीं थे। केवल अज्ञान वश सुख
हुआ यथार्थ में उनको सामग्री कुछ नहीं थी। उन
अभाव त्रैकालिक था। एवं 'सदेव सौम्येदमग्र आसी
इस श्रुति के अनुसार इस प्रतीयमान जगत्से
अद्वितीय ब्रह्म ही था। सो एक रस ब्रह्मवाणी
अविषय है वही तुरीयपद है ॥१२॥

❀कवित्त न० १३❀ (न्यायानुसार युक्तियां)

निद्रा से स्वप्न में अनेक हो भास रहा अवि
ब्रह्ममें संसारदृष्टी आया है॥ काया से आ
कल्पित काया में निद्रा जैसे, ब्रह्म से आ

कल्पित ब्रह्म में माया है। शक्ति शक्तिवान् से भिन्न दृष्टि आवे नहीं, कार्य से कारण का अनुमान भी लगाया है॥ निद्रा से स्वप्न ऐसे अविद्यासे जगत् मिथ्या रामाश्रम तुरीय पद तूष्णीं ही बताया है॥

(पूर्व पक्ष) निद्रा रूप उपाधिसे स्वप्न में अनेक होकर भासता है ब्रह्म तो शुद्ध है जिसप्रकार सूर्य में अन्धकार नहीं उसी प्रकार ब्रह्म में अविद्या नहीं है। ? उच्यते)

अनुत्पन्नाविनाश्येकं भास्वद्विज्ञानमात्रके
ब्रह्मण्यतद्विधाऽविद्या न सम्भाव्येति चेन्न तत्
॥बृ० वा० ६११॥

उत्पत्ति और नाश से रहित, एक प्रकाशमान ज्ञान-मात्ररूप ब्रह्म में, सूर्य में अन्धकार की तरह अविद्या का सम्भव नहीं है, यह कहना समीचीन नहीं है॥६११॥

अविद्याविषयत्वं किमसम्भाव्यमुताऽऽत्मनः
आविद्याकर्तृता तत्र नाऽऽद्यो विद्याविधानतः
बृ० वा० १-४-६१२

क्या आत्मा में अविद्या की विषयता (कर्मत्व) असम्भव है अथवा अविद्या में आत्मा का कर्तृत्व असम्भव है प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्र ने विद्या विधान किया है ॥ ६१२ ॥

न वेद्मीत्यनुभूतिश्च सर्वेषां स्वात्मसाक्षि कुम्भानुभूतिवत्तस्मान्नो वाऽविद्याऽपलप्यता ॥वृ० वा० १-४-६१

जैसे पुरुषों का घटानुभव आत्मसाक्षिक है वैसे 'न वेद्मि' (मैं नहीं जानता हूं) इस प्रकार अविद्या अनुभव सब को आत्मसाक्षिक है, इस लिए अवि अपलाप नहीं हो सकता ॥६१४॥

और साक्षात् श्रुति भी कहती है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम् ॥ श्वे०॥ १०३ ॥

उन्हों ने ध्यानयोगसे (यानी चित्त की एकता से) परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया जो अपने गु से छिपी हुई थी ॥३॥

अहमेव परब्रह्मेत्यस्याऽर्थस्याऽप्रबुद्धता
अविद्येति वयं ब्रूमो येह नाऽस्ति सदात्मनि
॥बृ० वा० १-४-६५८॥

अब हम अविद्या का स्वरूप दिखलाते हैं अविद्या किसे कहते हैं। 'मैं ही पर ब्रह्म हूँ' इस अर्थ का जो अज्ञान है उसी को हम अविद्या कहते हैं। ज्ञानी की दृष्टि से वह अविद्या सद्रूप आत्मा में कभी नहीं है ॥६५८॥

परात्मनि च चैतन्यं नित्यं स्याच्छशिशैत्यवत्
अविद्या न तथा तत्र युक्ता चन्द्रे यथोष्णता
॥६५९॥

अविद्यमानैवाविद्या वस्तु तत्वविचारिणाम् ४।८
अविचारेण मूढानां वज्रादपि दृढायते
॥१-४-६६०॥

चन्द्रमामें शैत्यकी तरह परमात्मा में चैतन्य नित्य ही है।अतः चन्द्रमें उष्णता की तरह परमात्मा में अविद्या युक्त नहीं है ॥ ६५९ ॥
वस्तु तत्त्व का विचार करने वालों की दृष्टि में अविद्या विद्यमान नहीं है और वही अविद्या विचारके न होने से

मूर्खों के लिए वज्र से भी कठिन हो जाती है॥६

तस्मादुत्पन्नतत्त्वस्य मास्त्वविद्या चिदा
अव्युत्पन्नस्य दृष्ट्यैषा न वेद्मीत्यनु

बृ० वा० ॥१-४-६६

इस लिए तत्त्वज्ञानी की दृष्टि से चिदात्म
अविद्या न हो, तो न सही, पर अज्ञानी की दृष्टि
तो 'न वेद्मि' (नहीं जानता हूं) इस अनुभवसे चि
में अविद्या सिद्ध होती ही है ॥६६३॥

(ननु)अनिर्वाच्यं किमज्ञातं मीयतेऽथ न
आद्ये मानानिवर्त्यं स्यान्नेतरस्तदसि

॥ बृ० वा० १-४-१४

(शंका) क्या अनिर्वचनीय अज्ञान प्रमाण से जा
है अथवा नहीं ? प्रमाणसे अज्ञान जान जाता
प्रथम पक्षमें प्रमाणसे अज्ञान की निवृत्ति न
सकती। और प्रमाण से नहीं जाना जाता इस
पक्ष में अज्ञान की सिद्धि ही नहीं हो सकती॥

अप्रमेयं तदज्ञानं भासते वा न भासते
भानं च किं स्वतः सिद्धमात्मचैतन्यतोऽथवा
॥वृ० वा० १४६॥

किसी भी प्रमाण से प्रमित न हुआ वह अज्ञान भासता है या नहीं? प्रथम पक्ष में अज्ञान का भान स्वतःसिद्ध है अथवा आत्म चैतन्य से ॥१४६॥

जडस्य न स्वतो भानमात्माऽपि तन्न भासयेत्
तद्भासनेऽस्य तत्सङ्गादसङ्गत्वं विहन्यते
॥१-४-१५०॥

अज्ञान जड है, अतः उसका स्वतः भान तो हो नहीं सकता, और आत्मा भी उसको भासित नहीं कर सकता क्योंकि अज्ञानका भासन करने पर अज्ञान के सङ्गसे आत्मा के असङ्गत्व की हानि होगी ॥

नाऽतोऽसङ्गेन भातं तदभातं तु न सिद्ध्यति
नैष्फल्याच्च तदज्ञानं नैव कल्प्यं चिदात्मनि
॥१५३॥

इस लिए असङ्ग ब्रह्म से अज्ञान का भान हो नहीं सकता, भान हुए बिना अज्ञान की सिद्धि नहीं

हो सकती और ब्रह्म में अज्ञान निष्फल भी है, इस
चिदात्मामें अज्ञान की कल्पना कभी नहीं क
चाहिए ॥१५३॥

अत्रोच्यते किमज्ञाने विचारासह
किं वा स्वानुभवाभाव आद्यः सिद्धान्त ए
॥वृ० वा० १-४-१५

इसका उत्तर कहा जाता है-क्या अज्ञान में वि
सहता (विचार से सिद्धि का न होना) कहते हो
या अपने अनुभवका अभाव कहते हो ? प्रथम तो
सिद्धान्त ही है।

अविचारितसंसिद्धिमविद्यां ब्रूम आ
स्वभावव्यतिरेकाभ्यां ध्वान्तसिद्धेरसम्भ
॥१५

क्योंकि हम आत्मामें अविद्याको अविचार
मानते हैं. कारण कि स्वभाव व्यतिरेक से आत्मा
अविद्या की सिद्धि नहीं हो सकती है। १५६॥

न चिदात्मस्वभावः स्यादविद्याजाड्य
नाऽपि चाऽऽत्मातिरेकेणस्वतः सिद्ध्यति जाड्
॥१५

अविद्या जड़रूप है, इसलिए वह चिदात्मका स्वभाव नहीं हो सकती । आत्मा के विना उसकी स्वतः सिद्धि भी नहीं हो सकती क्योंकि वह जड़ है ।।१५७।।

न द्वितीयो यतः स्वात्मन्यविद्यैषाऽनुभूयते
स्वानुभूतिर्न वेद्मीति दृष्टा प्रागैक्यबोधतः
।।१-४ १५८।।

द्वितीय पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मा में इस अविद्याका अनुभव होता है, कारण कि एकत्व ज्ञान से पहले 'मैं आत्माको नहीं जानता' ऐसा अनुभव देखा गया है ।।१५८।।

निरविद्योऽप्यसङ्गोऽयमज्ञातः स्यात्स्वभावतः
तमोवृत्तिमपेक्ष्यैव न तु वास्तववृत्ततः
।।१-४-१६०।।

निरविद्य तथा असङ्ग होता हुआ यह आत्मा स्वभाव से ही अज्ञात है । अज्ञान की वृत्ति की अपेक्षा से उसको अज्ञात कहते हैं, परमार्थमें अज्ञात नहीं है, क्योंकि वह अज्ञानका साधक है ।१६०।।

यादृग्वस्तुनि मर्यादा न तादृक् स्यात्तमस्यपि।
दृश्यते स्वशिरश्छेदो निद्राणेन तमसि॥
॥१६

वस्तुमें जैसी मर्यादा हुआ करती है, वैसी
(अज्ञानमें) मर्यादा नहीं है। सोया हुआ तमसी
अपना सिर कटा हुआ देखता है, जागता पुरुष
नहीं देखता ॥१६२॥

ब्रह्मणो निरवेद्यत्वस्वभावस्त्वनुभूय
ज्ञातात्मतत्त्वो जानाति त्रिकालं निरवि
॥१६

ब्रह्म का निरविद्यत्व स्वभाव अनुभव सिद्ध है,
आत्मज्ञानी पुरुष तीनों कालमें आत्माको
जानता है ॥१६६॥

अविद्यायाः स्वभावश्च ब्रह्मावरणलक्ष
अनुभूयत एवेह प्राकृतैरखिलैर्जनैः॥१-४-१

और अविद्याका स्वभाव ब्रह्मका आवरण
यह भी सब अज्ञानियों द्वारा अनुभव किया
है ॥ १७० ॥

इत्थमात्मा स्वतोऽसङ्गोऽप्यविज्ञातोऽनुभूतितः ॥
सिद्धोऽस्यार्थस्य दार्ढ्यार्थमनुभूतिः परीक्ष्यते
॥१७२॥

इस प्रकार स्वतः असङ्ग होता हुआ भी आत्मा अज्ञानियों के अनुभवसे अज्ञात है, यह अर्थ सिद्ध हो गया। इस अर्थकी दृढताके लिए अनुभवकी परीक्षा की जाती है ॥१७३॥

(ननु) कैषाऽनुभूतिः स्याद्याऽविद्यायाः प्रसाधिका ॥
किं मानजन्या धीवृत्तिश्चिदात्मा वाथवेतरः
॥१७३॥

(ननु) वह कौन-सा अनुभव है ? जो अविद्या को सिद्ध करने वाला है। क्या प्रमाण जन्य बुद्धि वृत्ति है ? अथवा चिदात्मा है ? अथवा कोई और ही है ॥१७३॥

नाऽद्यो मानाद्यभिव्यक्तेः प्राग्धीवृत्तेरसम्भवात् ॥
ऊर्ध्वं च मानहेयत्वान्न मानेन प्रमीयते ॥१७४॥

प्रथम पक्ष तो कह नहीं सकते, क्योंकि नाम-रूपकी अभिव्यक्तिसे पहले बुद्धिवृत्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो

सकती है। नामरूपकी अभिव्यक्तिके अन्तरे प्रमा
तो अज्ञानका नाश होता है, अतः प्रमाणसे अज्ञा
ज्ञान नहीं हो सकता ॥१७४॥

किञ्च मात्राद्युपादाने कथं मानं प्रवर्
अव्याकृतैकदेशत्वाच्चा ऽविद्यायां कुतो
॥बृ० वा० सार १-४-१७

किञ्च प्रमाता, प्रमाण प्रमेय, इनका उपदान
जो अज्ञान है उसमें प्रमाण कैसे प्रवृत्त हो सकता
अविद्या तो अव्याकृतका एक देश है, उसका प्र
ज्ञान कैसे होसकता है? क्योंकि अव्याकृतकालमें
उत्पन्न ही नहीं था ॥१७५॥

न द्वितीयश्चिदात्मा ऽयमविकारी न साध
न तृतीयो बुद्धि चिद्भ्यां को वाऽन्योऽनुभ
॥१

द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्यों
चिदात्मा अविकारी है, इसलिए अज्ञान को सि
कर सकता। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि

वृत्ति और चिदात्मा इन दोनों को छोड़ कर तृतीय कोई अनुभव ही नहीं है ॥१७६॥

अत्रोच्यते चिदात्माऽयमविकार्यपि भासयेत् ॥
न विक्रियन्ते सूर्याद्या जगतोऽस्याऽवभासने
॥१८०॥

यहां कहा जाता है-यह चिदात्मा अविकारी होताहुआ भी अज्ञानका प्रकाश कर सकता है, क्योंकि इस जगत् का प्रकाश करने में सूर्य चंद्रादिमें कोई विकार नहीं होता है ॥१८०॥

यथा प्रमाप्रमाभासरागादीनामशेषतः ॥
स्वार्थानन्यप्रमाणात्स्यात्प्रसिद्धिस्तमसस्तथा
॥वृ० वा० १८२॥

जैसे प्रमा, प्रमाभास और राग आदिकी सिद्धि पूर्ण रीतिसे स्वार्थ (स्वतन्त्र) अनन्य (अन्यके अनाधीन) प्रमाण (स्वतः सिद्ध) साक्षीसे होती है, वैसे ही अज्ञान की भी सिद्धि साक्षीसे होती है ॥१८२॥

न मानानि स्वतो भान्ति जडत्वान्न परस्परम्

भासयन्ति पृथक्कालवर्त्तित्वाद्भ्रान्त्यतो
॥१८

प्रमाण स्वतः प्रकाश नहीं है क्योंकि वह जड
कालमें रहने वाले हैं। इस लिए उनका परस्पर
प्रकाश नहीं होता है किन्तु अन्यसे ही प्रकाश होत
वह अन्य साक्षी हैं॥१८३॥ और सन्देह और मि
ज्ञान रूपप्रमाभास और बुद्धि वृति रूप रागादि भी
से भासते हैं वह अन्य साक्षी है॥१८४॥ और
अनन्यग (अन्य प्रमाका अविषय) साक्षी स्वत
॥१८

तमसो मानमेयत्वं दूषितं पूर्वपक्षि
भाति चेत्ततस्तमात्मसाक्षिणैव विभाति
॥१

अज्ञान प्रमाणोंका प्रमेय है इसमें पूर्वपक्ष
दूषण कह दिया है प्रमेय न होते हुए भी अज्ञान
होता है इसलिए साक्षीसे ही उसका भान हो
॥१

तस्मादात्मानमाश्रित्य स्वतः सिद्धमनन्यगम् ॥
भावाभावात्मकं विश्वं सर्वमेतत्प्रसिध्यति
॥१८८॥

इस लिए ज्ञान स्वरूप स्वतः सिद्ध आत्मामें आश्रित होकर यह भावाभाव रूप सकल विश्व प्रसिद्ध होता है ॥१८८॥

नहि संविदनारूढः प्रमात्रादिः प्रसिध्यति ॥
संविन्मात्रैकयाथात्म्यात्प्रमात्रादेरनात्मनः
॥१८६॥

ज्ञानमें आरूढ हुए बिना प्रमाता आदि प्रसिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि अज्ञात्मा प्रमाता आदि सकल जगत्का यथार्थस्वरूप ज्ञान ही है ॥१८६॥

प्रमात्रादिवियुक्तैषा संवित्कुत्राऽनुभूयते ॥
इति चेत् सुप्तिकाले सा विस्पष्टमवभासते
॥१६०॥

प्रमाता आदिसे रहित ज्ञान कहां प्रतीत होता है ? यदि ऐसा कहो तो उसका उत्तर सुनिए वह सुषुप्ति काल में स्पष्ट प्रतीत होता है ॥१६०॥

न चाऽवस्थान्तरेऽप्यात्मा न विविक्तोऽनु
अज्ञानसंशयादीनां प्रबुद्धे नाऽनवेक्ष
॥८८९॥
॥१६

अवस्थान्तरमें भी शुद्ध आत्मा नहीं प्रतीत होता यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि तत्त्वज्ञानीको अ में अज्ञान संशय आदि नहीं दिखाई देते हैं ॥१६

प्रत्यक् प्रवणया दृष्ट्या जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति
नैवाऽज्ञानं मृषाज्ञानं संशयज्ञानम
॥३=९॥
॥बृ० वा० १-४-१६

प्रत्यक् प्रवण दृष्टिसे (अन्तमुर्खदृष्टिसे) जाग्रत, स सुषुप्ति–इन तीनों अवस्थाओंमें अज्ञान, मिथ्या और संशयज्ञान, नहीं देखा जाता है ॥१६३॥

पराक्प्रवणया दृष्ट्याविमूढो मोहमा
स्वकार्ष्यर्यवत्कल्पयतु विद्वद् दृष्टेः किमा
॥१६

अज्ञानी अपनी पराकप्रवण(बहिमुर्ख) दृष्टिसे अ में आकाशकी नीलताकी तरह भलेही अज्ञा

कल्पना करे, परन्तु विद्वान् की दृष्टिमें उससे क्या होगा ॥१६४॥

अविद्या वाऽथ तत्कार्यं न भेदान्नाऽप्यभेदतः ॥
निरूप्यते यतो ऽतः स्यादविचारितसिद्धिकम् ॥

अविद्या और अविद्याका कार्य न तो आत्मासे भिन्न ही सिद्ध नहीं हो सकता है, न अभिन्न ही। और विचार से अविद्याकी सिद्धि नहीं हो सकती इसलिए उसको अनिर्वचनीय कहते हैं।

देशभ्रमयुताः सर्वे देहाद्याः पारतन्त्र्यतः
स्वतन्त्रं प्रत्यगात्मानं देशत्वेन समाश्रिताः ॥१-४ २०१॥

देशभ्रमसे युक्त परतन्त्रदेह आदि सब पदार्थ स्वतन्त्र प्रत्यगात्मा रूपी देशका आश्रय करके स्थित हैं। अर्थात् आत्मामें देहादि उपाधिसे देशपरिच्छेद कालपरिच्छेद, तथा वस्तु परिच्छेद प्रतीत होते हैं ॥२०१॥

यत्तत्त्वगं स्याद्यद्वस्तु न तत्तदतिवर्तते
नाऽज्ञातरज्जुजः सर्पो रज्जुमुल्लङ्घ्यवर्तते ॥२०२॥

जो वस्तु जिस तत्त्वमें रहा करती है, वह वस्तु तत्त्वका उल्लंघन (त्याग) कभी नहीं करती, क्यों अज्ञात रज्जुमें उत्पन्न होने वाला सर्प रज्जुका त्याग अन्यत्र नहीं रहता ॥२०२॥

अपास्ताज्ञान ईशोऽसावस्थूलाद्युक्तिगोच
साभासाज्ञानयुक्तः सन्साक्ष्यन्तर्यामितां
॥३२

अज्ञान से रहित अस्थूलादि शब्दोंका गोचर निरुपाधिक ब्रह्म कहा जाता है, वही ईश्वर साभ अज्ञान से युक्त होकर चित्की प्रधानतासे साक्षिता और तमकी प्रधानतासे अन्तर्यामिताको प्राप्त होता ॥३२

मोहतत्कार्यनीडं यत्कूटस्थाभासरूपक
ज्ञानंतदविनाभूतः परः साक्षीति
॥वृ०वा०३

अज्ञान और अज्ञानके कार्यमें स्थित जो कूटस्थ आभासरूप ज्ञान है, उनके साथ मिलकर ही पर साक्षी कहा जाता है ॥३३७॥

कूटस्थस्य न साक्षित्वं द्वितीया संगतेर्भवेत् ॥
नाशिनोऽपि न साक्षित्वं साक्ष्येणाऽव्यतिरेकतः
॥३३८॥

अज्ञानमात्रहेतौ तु सर्वमेतत्समञ्जसम् ॥
कर्तृत्वाद्यन्यथाज्ञानहेतुत्वात्तस्य चाऽऽत्मनि
॥वृ० वा० ३३६॥

द्वितीय वस्तुके सम्बधके बिना कूटस्थ साक्षी नहीं हो सकता और विनाशी चिदाभास साक्षिभास्य होनेसे साक्षी नहीं होसकता । अज्ञानमात्रको कारण मानने पर सब व्यवस्था समीचीन हो जाती है, क्योंकि अज्ञान ही आत्मामें कर्तृत्वादि अन्यथाज्ञानका हेतु है ।

॥ ३३८-३३६ ॥

बाकी वृ०वा० सार ३-४-६८-६६ में देखो

न चाऽज्ञानस्य वस्तुत्वं शक्यते शंकितुं बुधैः ॥
तेन साक्षित्वकर्तृत्व भोक्तृत्वादेरवस्तुता
॥वृ०वा०१-४-३४०॥

पण्डित लोग अज्ञानको वस्तु (सत्य) नहीं कहते। इसलिए साक्षित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि भी अव (मिथ्या) ही हैं ॥३४०॥

आत्मात्मवत्वसम्बन्ध आत्मात्माज्ञानयोर्मतः
ईशादिविषयान्तं यत्तदविद्याविजृम्भि
॥१-४-३४१

आत्मा और आत्माके अज्ञानका आध्यासिक ता त्म्य ही सम्बन्ध है, इसलिए ईश्वरसे लेकर विषय प न्त सारा जगत् अविद्या का ही विलास है ॥३४१॥

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वर
इति वेदशिरःसूक्तिरुक्तार्थे युज्यते स्फु
॥३४

माया को प्रकृति (उपादान कारण) समझना चाहि और मायी को महेश्वर समझना चाहिए। यह उपनि का वचन स्पष्ट प्रमाण है ॥३४३॥

साक्ष्ये अज्ञानतत्कार्ये अपेक्ष्यभ्रान्तबुद्धि
कूटस्थो निर्द्वयोऽप्यात्मा साक्षीत्यध्यस्यते
॥३४

अज्ञान और–कार्य ये दोनों साक्ष्य (साक्षीसे भासित होने वाले) हैं उनकी अपेक्षा करके भ्रान्तबुद्धि जड़ लोग कूटस्थ अद्वितीय आत्माको भी साक्षी कहते हैं ॥२३६॥

तस्माच्छ्रुतिः प्राह सत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥
यथानुभूतं मुनिभिस्तथैवेदं न संशयः ॥ बोधसार॥

यह (पूर्वोक्त) सब अनुपपत्तियां देख कर ही वेदने उसे वाणी और मनका अविषय कहा है सो ठीक ही कहा है। अपने अनुभवोंके द्वारा मुनि लोगों ने भी उसे वैसा ही पाया है इसमें किसी प्रकारका सन्देह न करें ॥इति॥

॥ कवित्त नं° १४ ॥

एक ही अद्वितीय था तो कहो भ्रम हुआ किसे
उसे ही हुआ भ्रम जिसने सवाल ठाया है॥ द्वैत
को देखे सोई द्वैतका वखान करे एकत्वमें कौन
कहां किसे नजर आया है॥ होता तो जगत्
इसकी निवृत्ति भी देखी जाती विना हुआ

निवृत्त नहीं परमार्थ ही पाया है ॥ बोध का
शून्यमें प्रपंच का आरोप किया रामाश्रम
यपद तूष्णीं ही बताया है ॥

नन्वविद्या स्वतो बुद्धेर्न कथंचन सम्भवेत् ॥

स्वयं प्रकाश आत्मामें अविद्याका सम्भव कैसे
सकता है ? क्योंकि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है।
दूसरे का अभाव है, तो फिर भ्रम किस को हुआ

उच्यते

(भाष्य) कस्यपुनरयमप्रबोध इति
यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इति॰ ब्रह्मसू
४-१

इस सूत्र के भाष्यमें भगवान् भाष्यकार जी लिख
हैं—'यह अज्ञान किसको है ऐसा यदि पूछो तो
तुम पूछते हो सो तुमको ही है। ऐसा हम कहते
(श्रुतिः) यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर
जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति ॥ इत्यादि
॥ बृ॰ २-४-१४

अविद्या कल्पित कार्यकारणसंघातोपाधिजनित विशेषात्मामें द्वैतके समान वस्तुतः अद्वैत ब्रह्ममें द्वैतके समान) तथा अभिन्नमें भिन्नके समान अपनेसे अन्य वस्तु लक्षित होती है, इसलिए अन्य अन्यको देखता है यह सम्बन्ध विवक्षित है (शंका) इव शब्द उपमाका सूचक है। द्वैतका द्वैतके साथ उपमानोपमेय भावका बोधन करनेसे द्वैतको सत्य ही मानना चाहिए, इसलिए द्वैत सत्य है यही श्रुति से सिद्ध होता है? समाधान

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्"

"एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म""आत्मैवेद सर्वम्"

(छां० ६-१-४)

इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे आत्मा ही परमार्थ सत्य है। उससे अन्य संसार उसमें कल्पित है यह बार बार श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध कर चुके हैं, अतः प्रकृतमें द्वैतदशा में प्रतीयमान व्यावहारिक सत्यको लेकर उक्त श्रुतिकी प्रवृत्ति है। जिस अवस्थामें द्वैतके समान प्रतीत होता है, उस अवस्था में दूसरा—जैसे चन्द्रसे दूसरा जलमें चन्द्र प्रतिबिम्ब है वैसे ही परमात्मासे भिन्न शरीरा

ग्रु पाधिक जीव–इतरसे घ्राणेन्द्रियसे घ्राणयोग्य गन्ध आघ्राण करता है, पर्यात आदि इस प्रक्र.। मर्त्र समझना। यह अविद्या – अवस्था का समाचार है।

आगे विद्या को कहते हैं (यथाश्रुतिः)

यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्यतीत्यादि०॥बृ० २-४-१४॥

जिस अवस्था में ब्रह्मविद्यासे अविद्या नष्ट हो जाती है, उस अवस्थामें आत्मा से अन्य का अभाव होता है। जिस अवस्था में ब्रह्मवेत्ताके सब नाम रूप आदि आत्मामें ही प्रविलीन हो जाते हैं, सब आत्मा ही हो जाते हैं, उस अवस्थामें कौन किससे किसको देखे!

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः
॥ गौ० का० १-१७॥

प्रपंच यदि होता तो निवृत्त होजाता–इसमें सन्देह नहीं। किन्तु [वास्तव में] यह द्वैत तो मायामात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है॥ १७॥

तथाप्यैकात्मबोधाय श्रुत्या सृष्टिरुदीर्यते
बुध्यारोहाय मन्दानां सृष्टौ दृष्टान्त उच्यते
॥ वृ० वा० २-४-१३३ ॥

(शंका) यदि सृष्टि अवास्तविक है तो श्रुतिने उस का प्रतिपादन क्यों किया ? (समाधान) ब्रह्मात्मैकात्म्यके बोधके लिए श्रुतिने सृष्टिका प्रतिपादन किया है. वास्तविक सृष्टिकी सत्ता के बोधनके लिए नहीं किया है, अतः श्रुतिका परम तात्पर्य उक्त अर्थ में ही है, सृष्टिके तात्त्विकत्वमें नहीं है (शंका—यदि ऐसा है ही तो सृष्टि का समर्थन करनेके लिए ऊर्ण-नाभि आदि दृष्टान्तोंका कथन क्यों किया ? (समाधान-मन्द बुद्धियोंके समझाने के लिए उक्त दृष्टान्त कहे गये हैं ॥ १३३ ॥

(ननु)मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः०(गौ० का० ३-१५) तत्तेजोऽसृजत०(छां० ६-२-३) स इमांल्लोकान सृजत०(ए० ४-१-२) आत्मन आकाशः संभूतः० (तै० २-१) स एष इह प्रविष्टः० ॥ वृ० १-४-७॥ इत्यादिभ्यः—

मृत्तिका, लोह विस्फुलिङ्गादि आदि में सृष्टि का क्र है। (उसने तेज उत्पन्न किया) (उसने इन लोकों सृष्टि की) (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) ब्रह्म इस शरीर में प्रवेश किये हुए है। इत्यादि सृष्टि पादिका श्रुतियों की क्या गति होगी ?

उच्यते तदन्यत्रमारम्भणं शब्दादिभ्यः (ब्र० १-४-१४) इस सूत्र के भाष्य में नह्ययं सृष्ट प्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः नहि तत्प्रति कश्चित्पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा, न च कल्प शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मवि वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्व दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त ताम्—अन्नेन सोम्य०॥ छां० ६-८-४॥ मृ दृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाऽभेदं वेदितुं सृ दिप्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते।

निश्चय सृष्टि आदि प्रपंच वेदान्त वाक्योंसे विव

नहीं है क्योंकि प्रपंचसे सम्बन्ध रखने वाला कोई भी पुरुषार्थ न तो अनुभव सिद्ध है और न श्रुतिमें ही मिलता है, एवं सृष्टिविषयक वाक्योंसे उसकी कल्पना भी नहीं की जासकती, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार के बलसे तत् तत् उपनिषदों में स्थित ब्रह्म विषयक वाक्यों के साथ उनकी एक वाक्यता प्रतीत होती है ! (अन्नेन सोम्य शुङ्गेन०) (हे सोम्य ! अन्न रूप कार्य से जलरूप मूल का निश्चय करो (हे सौम्य ! जलरूप कार्य से तेजरूप मूल का निश्चय करो और हे सौम्य तेज रूप कार्य से सद्रूप मूल का निश्चय करो। इस प्रकार सृष्टि आदि प्रपंच ब्रह्म के ज्ञान के लिये है, ऐसा श्रुति दिखलाती है। और मृत् आदि दृष्टान्तों से कार्य कारण से अभेद कहने के लिए सृष्टि आदि प्रपंच का श्रुति में प्रतिपादन किया है॥

मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन
॥ गौ० का० ३-१५ ॥

[उपनिषदों में] जो मृत्तिका लोहखण्ड चिनगारी आदि दृष्टान्तों द्वारा भिन्नभिन्न प्रकारसे सृष्टिका निरूपण किया है वह [ब्रह्मात्मैक्यमें] बुद्धिका प्रवेश करने का उपाय है वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है ॥१५॥

दिग्देशकालशून्यस्य प्रवेशो बिल सर्पवत्
न त्वजस्य परस्याऽस्ति तेनाऽविद्याप्रकल्पितः
॥१-४-४७४॥

दिग् देश और काल आदि परिच्छेदसे रहित तथा जन्मरहित परमात्माका प्रवेश बिलमें सर्पकी तरह नहीं हो सकता, इसलिए अविद्याप्रयुक्त कल्पित ही उसका प्रवेश है ॥४७४॥

अग्निःसूर्यो मरुच्चेति दृष्टान्ताः श्रुत्युदीरिताः
अप्रविष्टस्वभावोक्ताः कार्यमात्माऽऽविशज्जगत्
॥४७६॥

अग्नी सूर्य और–पवन ये तीन दृष्टान्त कठवल्ली श्रुतिने कहे हैं वैसे जैसे ये तीनों अप्रविष्टस्वभाव होते हुए भी प्रविष्ट कहे जाते हैं वैसे ही कार्य जगतमें आत्माका प्रवेश है ॥ ४७६ ॥

यथा सृष्ट्यादयः क्लृप्ताः प्रवेशोऽपि तथेष्यताम्
नैवोपपद्यन्ते सृष्ट्याद्याः कल्पिताः स्वतः
॥ ४८० ॥

जैसे सृष्टि आदि कल्पित हैं, वैसे ही प्रवेश भी कल्पित ही समझना चाहिए। युक्तिसे सृष्टि प्रवेश आदि सिद्ध नहीं हो सकते इसलिए सृष्टि प्रवेश आदि कल्पित ही हैं ॥४८०॥

॥ सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद, सृष्टिके कल्पक का विचार ॥

वियदादिसर्गतत्क्रमादेः कः कल्पक ? न कोऽपि। (ननु) किमात्मना तर्हि "आत्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादि श्रुतिः? निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मैक्या वक्तुमचनेत्यनेति - अध्यारोपापवादाभ्यांनिष्प्रपञ्च ब्रह्म प्रतिपत्तिर्भवतीतितत्प्रतिपत्त्युपायतया श्रुतिषु सृष्टि प्रलयोपन्यासः न तात्पर्येणाति भाष्याद्युद्घोषः॥

श्रुतिमात्रसे प्रतीत आकाश आदि प्रपञ्च और ब्रह्म आदिका कल्पक कौन होगा ? कोई नहीं होगा। (यहां पूर्वपक्षी पूछता है कि)(आत्मासे आकाश की उत्पत्ति हुई) इत्यादि श्रुति निरालम्ब होगी। नहीं, निरालम्ब नहीं होगी, क्योंकि उन श्रुतियोंका आलम्बन प्रपंचशून्य ब्रह्म और जीवका ऐक्य है, अध्यारोप और अपवादसे प्रपंच-शून्य ब्रह्मकी अवगति होती है, इसलिए समस्त प्रपंचशून्य ब्रह्मकी अवगतिके उपायरूपसे श्रुतियों में सृष्टि और प्रलयका कथन किया गया है, वस्तुतः सृष्टि आदिका प्रतिपादन करना श्रुतियोंका तात्पर्यविषयीभूत अर्थ नहीं है, इस प्रकार भाष्य आदि बड़े बड़े निबन्धों में सहस्रशः प्रतिपादन किया गया है॥ शहस्र दर्पण में कहा भी है—

श्रुतीनां सृष्टि तात्पर्यं स्वीकृत्येदमिहेरितम्॥
ब्रह्मात्मैक्य परत्वात्तु तासातन्नैव विद्यते ॥इति॥

(स इमांल्लोकानसृजत) इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियों का स्वार्थमें तात्पर्य मानकर ही वियत्पाद और प्राणपाद में विरोधका समाधान किया गया है, क्योंकि सृष्टि-

प्रतिपादक श्रुतियोंका तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्मात्मैक्य में ही होनेसे सृष्टिके प्रतिपादन में उनका अभिप्राय है ही नहीं ॥

नन्वेवं श्रौतसर्गस्य कल्पकः को न कश्चन ॥
अध्यारोप्यापवादो हि निष्प्रपञ्चप्रसिद्धये ॥४३॥

यदि शङ्का हो कि श्रौत संसार का कल्पक कौन है ? तो कहिए कि—कोई नहीं है क्योंकि निष्प्रपंच ब्रह्म की सिद्धिके लिए ही आरोप करके अपवाद है ॥४३॥

इति शास्त्र दर्पणे ॥

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते
शिष्याणां बोधसिद्धयर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः॥

अनादि कालसे प्रपंचके संस्कार में डूबे हुए शिष्यों को निष्प्रपञ्च आत्मतत्त्वका बोध करानेके लिए थोड़ा सा सृष्टिक्रम बतलाकर पीछे उसका अपवाद करदिया जाता है।

प्रक्रिया नियमो नाऽत्र पुं व्युत्पत्ति प्रधानत
ऽतः श्रुतिषु सृष्ट्यादि विगानं बहुधे
॥ वृ० वा० १-४-३५

पुरुषकी व्युत्पत्ति ही प्रधान है, अतः प्रक्रि
नियम यहां विवक्षित नहीं। श्रुतिका तात्पर्य पु
ज्ञान करानेमें है, इसलिए श्रुतियोंका सृष्टि
विरोध देखा जाता है ॥ ३५७ ॥

जिस पुरुष रत्न को इन श्रुति वाक्योंसे आत्म ज्ञ
गया वही तुर्यरूप ब्रह्म है वही मनवाणी से अगो

वाचा मौनमयी गतिः स्थितिमयी निद्रामयो
निद्रा बोधमयी निशादिनमयी नक्तं मयो
कर्म ब्रह्ममयं जगत्सुखमयं किञ्चिन्नकिञ्चन्म
दुर्लंघ्यं गुणवर्त्म लंघितवतो वार्ता कथं वर्ण

वाणी मौनमय है, गति स्थितिमय है,
निद्रामय है, निद्रा ज्ञानमय है, रात्रि दिनमय
रात्रिमय है। कर्म ब्रह्ममय है, जगत् सुखमय है,

अकिञ्चन्मय है। दुर्लंघ्य गुणमार्ग को लघन करने वाले की बात क्या कही जाय?

॥ कवित नं० १५॥

अतम अन्धकार प्रकाश से भी परे जात सत्य नाऽसत्य नहीं शिवरूप पाया है॥ अज है विरज है न ग्रहण है नतज्य है प्रपञ्चसे दूर प्रपञ्च सा दिखाया है। पञ्च प्राणवर्ग सप्त धातु नहीं पञ्च कोष देह इन्द्रिय रूप नहीं दृष्टिमें आया है॥ कुछ है और कुछ नहीं ऐसी भी कल्पना नहीं गमाश्रम तुरीय पद तूष्णी ही बताया है॥ श्रुतिः यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्नसन्न चासच्छिव एव केवलम्॥ तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं० (४-१-८)

जिस समय तम (अज्ञान) नहीं रहता उस समय न दिन रहता है न रात्रि और न सत् रहता है न असत् एकमात्र शिव रह जाता है वह अविनाशी और आदित्य मण्डलाभिमानी देवका भजनीय है तथा उसी से गुरु परम्परा तज्ञान का प्रसार हुआ है॥ १८॥

(स्मृतिः)ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नु
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।गी० १३।१

हे अर्जुन, जो ज्ञातव्य तत्त्व है उसका मैं तुम्हें उ
देश दूँगा, जिसको जानकर पुरुष संसारसे मुक्त
जाता है । वह ज्ञातव्य तत्त्व—सम्पूर्ण महद् आदि
विकारोंसे विलक्षण नित्य कूटस्थ ब्रह्म है, ब्रह्म न
सत् (कार्यरूप) और न असत् (विकारकारणात्म
अव्यक्त) कहा जा सकता है ॥१२॥(आत्मा अज है प्रक

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं , प्रकाश

॥मा०का० ३-२

(वह यह आत्मा यह नहीं है यह नहीं है) इत्या
श्रुति आत्माके अग्राह्यत्वके कारण [उ
विषयमें] पहले बतलाये हुए सभी भावोंका निषेध कर
है, अतः इस [निषेधरूप] हेतुके द्वारा ही अजन्मा आत्
प्रकाशित होता है ॥२६॥

तथा श्रुतिः—

न जायते म्रियते वा विपश्चित्
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्
अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे

॥ क०उ० १-२-१८ ॥

नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो जन्म लेता है, और न मरता है, यह न तो स्वयं किसी से हुआ है, और न इससे कोई भी हुआ है अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है यह अजन्मा नित्य सदा एकरस रहने वाला और पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता है ॥१८॥

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते

॥ गौ० का० ३-४८ ॥

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। जिस अजन्मा ब्रह्म में किसी की उत्पत्ति नहीं होती वही सर्वोत्तम सत्य है ॥ ४८ ॥

धर्माय इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः
जन्म मायापमं तेषां साच मायान विद्यते
॥४-४८ गौ० का०॥

धर्म (जीव) जो उत्पन्न होते कहे जाते हैं वे वस्तुतः उत्पन्न नहीं होते। उनका जन्म माया के सदृश है और वह माया भी [वस्तुतः] है नहीं ॥ ५८ ॥

तदात्मदेवं परिपूर्णरूपम् यथा
समानं हि तथा विशेषम् ॥
जानन्ति सन्तः परमार्थरूपम्
न मोहमायान्ति कदापि लोके ॥

वह आत्म देव परिपूर्ण रूप है समान है और जैसा समान है वैसा ही विशेष है परन्तु संत लोग उसे परमार्थरूप ही जानते हैं वे कभी फिर इस लोक में अज्ञान को प्राप्त नहीं होते हैं।

(श्रुतिः-विरजं ब्रह्मनिष्कलम् ॥मु० उ० २-२-६)

विरज, अविद्यादि सम्पूर्ण दोष रूप मल से रहित० इत्यादि ।

अन्य श्रुतिः) विरजं निष्कलं शुभ्रम् ॥ब्रह्मोप०॥

धर्माधर्मौ रजोऽस्यैरजोवत्तन्मलत्वतः ॥
तदकर्तृत्वतो ब्रह्म विरजो करणत्वतः ॥

ग्रहोन तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम्
॥ गौ० का० ३-३८ ॥

जिस (ब्रह्मपद) में किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है उसमें किसी तरह का ग्रहण और त्याग भी नहीं है। उस अवस्था में आत्मनिष्ठ ज्ञान जन्मरहित और समता को प्राप्त हुआ रहता है ॥ ३८ ॥

यथा नभसि शून्यत्वं तथेद जगदीश्वरे ॥
सदृशं स्वस्वरूपेण न वा रूपेण केन चित
॥ यो० वा० ६-१६-३५॥

जिस प्रकार से आकाश शून्य है अर्थात् शुद्ध है उसी प्रकार आत्मा में यह जगत् शून्य है अर्थात् है ही नहीं। अपने ही स्वरूप से अपने सदृश है और किसी रूप से नहीं अक्रियः) अक्रिय क्रिया रहित होने से क्रियात्मक पंच प्राण भी नहीं) अव्ययः) घटन बढन से रहित है (श्रुतिः—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च

॥ श्वे० ६-८॥

उसके शरीर और इन्द्रियां नहीं हैं उसके समान और उससे बढ कर भी कोई नहीं दिखता उसकी पराशक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है और वह स्वाभाविक ज्ञान क्रिया और बलक्रिया है।

सादयसाचिन्वहीनात्मा किञ्चित्किञ्चिन्नाचिन्तन
यस्य प्रपञ्चभानं न ब्रह्माकारमपीहना।
॥ ते० त्रि० ४-५१ ॥

अर्थ—यह आत्मा न सादय है और न हो सचो है, और न ही यह आत्मा कुछ है, कुछ नहीं है ऐसी कल्पना भी नहीं है। जिसको प्रपँच का भान नहीं है उसको (मैं ब्रह्म हूं) एसा वृत्तिज्ञान भी नहीं है। यही तुरीय रूप है।

॥ कवित्त नं० १६ ॥

कुछ है और कुछ नहीं फिर भी मिथ्या रूप नहीं
आत्मा ही तुरीय सब वेदों में गाया है॥ तत्त्व-
मसि छान्दोग्य अयमात्मा ब्रह्म वृहदारण्य तत्स-
त्यं स आत्मा छांदोग्यमें आया है॥ यस्माद्वाद-
परोक्ष द् ब्रह्म वृहदारण्य श्रुति कहे स बाह्या-
भ्यन्तरो ह्यजः मुण्डक में पाया है आत्मेदं
सर्वम् इन श्रुतियोंमें कहा सोई रामाश्रम तुरीय०

(शंका) कुछ है और कुछ नहीं ऐसी कल्पना भी नहीं है तो फिर वह है ही नहीं ?

(उच्यते) अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम-चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचो-पशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ माँ० उ० ७ ॥

कहते हैं—यह जो कल्पना से रहित है सो यह आपका आत्मा ही है इस बात को सब श्रुतियाँ कहती हैं—अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य अव्यपदेश्य, एकात्म-प्रत्ययसार, प्रपंचका उपशम, शांत, शिव और अद्वैत है। वही आत्मा है और वही साक्षात् जानने योग्य है ॥७॥

तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतोऽति

(छां० ६-८-१६)

वह सत्य है, वह आत्मा है, और हे श्वेतकेतो! वही तू है ॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः
॥ मु० उ० ॥ २-१-२॥

[वह अक्षर ब्रह्म] निश्चय ही दिव्य अमूर्त पुरुष बाहर भीतर विद्यमान अजन्मा अप्राण मनोहीन विशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षर से भी उत्कृष्ट है ॥२॥

अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्
॥ बृ० २–५–१९ ॥

यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है, यही समस्त वेदान्तों का अनुशासन (उपदेश) है।

यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः
॥ बृ० ३-४-१ ॥

जो साक्षात अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है उसकी व्याख्या करो इत्यादि प्रश्न, एष त आत्मा सर्वान्तरः० (बृ० ३-४-१) यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है ॥ १ ॥

आत्मा सर्वस्वरूपत्वात् सर्वान्तरो गरेरितः
सर्पधारादिकल्पेषु रज्जोरान्तरता यथा
॥ वृ०वा० सार ३-४-२४ ॥

कल्पित अधिष्ठान स्वरूप होता है इस अभिप्राय से आत्मा सर्वस्वरूप है। इसी से आत्मा सर्वान्तर कहा गया है। जैसे रज्जु में सर्पधारादि की भ्रान्ति में रज्जु सर्वान्तरता (सर्वाधिष्ठानता) है वैसे ही आत्मा सबमें अनुस्यूत है अतएव सर्वान्तर माना जाता है ॥ २२ ॥

मुख्यापरोक्षमुक्तं त इति दर्शयितुं पुनः
प्रत्यग्दृष्टिपरं वाक्यमुत्तरत्वेन वक्त्यसौ
॥ वृ० वा० सार ३-४-४६ ॥

अपरोक्ष दो प्रकार का है—एक मुख्य और दूसरा गौण। मुख्य अपरोक्ष आत्मा में है और दूसरों में गौण है। पर यह बात आपकी समझ में नहीं आई अतः स्पष्टीकरण के लिये उक्त वाक्यों को ही पुनः उत्तर रूप से कहा है विद्वानों के प्रति आत्मस्वरूप दृष्टि

ही अपरोक्ष है ॥ ४६ ॥ "आत्मैवेद सर्वम्" (आत्मा ही यह सब है) इत्यादि श्रुतियां हैं। और–

'नाऽहमस्मि' इति कदापि यस्य कस्यापि प्रत्ययोऽस्ति मैं नहीं हूं ऐसी प्रतीति कभी किसीको नहीं होती। किन्तु मैं हूं यह प्रतीति सबको सर्वाधिष्ठान आत्मासे सदा अनुभव रूपहै इससे आत्मा नहीं है ये कहना ठीक नहीं है ॥

अधिष्ठानं विना कार्यं न तिष्ठति कदाचन ॥
सर्वाधिष्ठानरूपं हि कथं ब्रह्म न कुत्रचित् ॥

अधिष्ठान के बिना अध्यस्त (कार्य) कभी स्थित नहीं रह सकता और सबका अधिष्ठान रूप जो ब्रह्म है उसे कैसे कहते हो कि ब्रह्म कहीं नहीं है।

॥ कवित्त नं० १७ ॥

प्रत्यक्ष है तुरीय लब्ध मुर्खों को होता नहीं ज्ञानियोंको ब्रह्मपद पद बीच पाया है ॥ जाग्रत को त्याग और स्वप्न बीच गया नहीं मध्य की अवस्था में रूप को लखाया है ॥

देश से देशान्तर की वृत्तियों के मध्य बीच स्वांसो स्वांस मध्य बीच रूप दरशाया है॥ इदं शब्दसे नहीं प्रत्यक्ष करे कोई रामाश्रम तुरीय पद तूष्णी ही बताया है॥

अविचारविचाराभ्यां यथा सर्पत्वरज्जुते॥
तथात्मन्यपि संसारभावाभावाविहीक्ष्यताम्
॥ बृ० वा० सार ३-५-१९ ॥

जैसे रज्जुत्व और सर्पत्व ये दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं फिर भी रज्जु में सर्प भ्रमकाल में भ्रांत को सर्पत्व की प्रतीति होती है और अभ्रांत पुरुष को रज्जुत्व की प्रतीति होती है यह लोक में बार बार देखा जाता है वैसे ही एक ही आत्मा में संसारी पुरुषों की अपेक्षा उक्त अभाव (अप्रत्यक्ष) की प्रतीति होती है और तत्त्व-ज्ञानियों के लिए वह सर्वथा भावरूप (प्रत्यक्ष) प्रतीति होती है, इसमें आश्चर्य क्या ? विरुद्ध धर्म एक में अधिकारी के भेद से उक्त न्याय से रहते हैं ॥१९॥

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ॥
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम्
॥ गौ॰ का॰ ४-८० ॥

इस प्रकार [द्वैत से] निवृत्त और [विषयान्तर में] प्रवृत्त न हुए चित्त की उस समय निश्चल स्थिति रहती है। वह परमार्थदर्शी पुरुषों का ही विषय है और वही परम साम्य अज और अद्वय है ॥ ८० ॥ (यही मनोवृत्तियोंकी सन्धिमें ब्रह्म साक्षात्कार है)

निद्रादौजागरस्यान्ते यो भाव उपजायते
तं भावं धारयन्योगी न दुःखैरभिभूयते ।यो॰वा॰।

जाग्रत् का अन्त और स्वप्न के आदि में (यानी मध्य अवस्था में) जो भाव उत्पन्न होता है योगी उसी भाव को धारण करते हैं वही आनन्द स्वरूप आत्मा है ॥

देशाद्देशांतरं दूरं प्राप्तायाः संविदो वपुः
निमेषेणतु तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते
॥ यो॰ वा॰ ॥६-३५-१॥

इस देश को त्याग दिया और अन्य देश को न प्राप्त हुआ ज्ञान स्वरूप उस निमेष के मध्य को चिदाकाश (ब्रह्म) कहते हैं वही प्रत्यक्ष तुरीय है ॥

(शंका) यदि अपरोक्ष (यानी प्रत्यक्ष) है तो चक्षु (नेत्र) से दिखलाओ ? उच्यते)

दृष्ट्याद्यगोचरः प्रत्यगितिप्रश्नमपाकरोत्।

घट के समान उसे प्रत्यक्ष करना अशक्य है, अतः प्रत्यक्ष से दिखलाने का प्रश्न ही असंगत है, जैसे रूप श्रोत्र से दिखलाइए यह प्रश्न असंगत है कारण कि रूप श्रोत्र का विषय नहीं है, इसी प्रकार आत्मा को चक्षु से दिखलाइए यह प्रश्न भी असंगत है।

(श्रुतिः) न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयात् (बृ० ३-४-२)

दृष्टि के द्रष्टा को कोई देख नहीं सकता श्रुति के श्रोता को कोई नहीं सुन सकता मति के मन्ता को कोई मान नहीं सकता विज्ञाति के विज्ञाता को कोई जानता नहीं।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते
॥ केनोप० । १–६ ।

जिसे कोई नेत्र से नहीं देखता बल्कि जिसकी सहायता से नेत्र [अपने विषय को] देखते हैं उसी को तू ब्रह्म जान । जिस इस [देश कालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥६॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नोमनो०
केनो० १–३ ॥

वहां (उस ब्रह्म तक) नेत्रेन्द्रिय नहीं जाति वाणी नहीं जाती मन नहीं जाता यही तुरीया अवस्था रूप तूष्णी है ।

कवित्त नं० १८ (मौन का मुख्यार्थ)

क्रोधसे हुंकार मारे वाणी से बोले नहीं पण्डितों को बालकोंका खेल दरशाया है ॥ मौन नाम सन्यास का आत्मा को जान करके भिक्षाचरण

करते ब्राह्मण वेदों में गाया है॥ बोले डोले तिष्ठ मिले गन्धरस पान करे दे‍ सुने कार्य भाग ही चलाया है॥ संकल्प वासना को त्याग करके ठोस रहे रामाश्रम तुरीय पद तूष्णीं ही बताया है॥

यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥
यन्मौनं योगिभि र्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा बुधः
॥ ते० वि० १-२०॥

वाचो यस्मा न्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते॥
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जि
॥ ते० विन्दु० १-२१

इति वा तद्भवेन्मौनं सतां सहजसञ्ज्ञितम्
गिरा मौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः
॥ ते० वि० १-२२॥ इति

जहां से प्राप्त करे बिना मनके सहित वाणी लौट आती है जो मौन योगियों को अनुभव गम्य है जिसे जानकर सदा तद्रूप होते हैं। जिससे वाणी निवृत्त होती है, उसके कथन करने को कौन समर्थ है ? यदि प्रपंच का भी कोई कथन करें सो भी अनिर्वचनीय होने से शब्द से वर्जित है ! इस प्रकार सज्जनों का स्वभाविक ही मौन (इस नाम करके) होता है, और वाणी का मौन तो बालकों का (अज्ञानियों का) है ऐसा ब्रह्म वादी (ब्रह्मवेत्ता) कहते हैं ॥२०॥२१॥२२॥ (और इससे मुख्य मौन सन्यास ही है) यथा ब्रह्म सूत्र—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ब्र० सू० ३-४-४६॥

मौन और गृहस्थाश्रम जैसे श्रुति सम्मत है वैसे ही ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ भी श्रुति सम्मत है अतः उन दो आश्रमों को लेकर चार आश्रम है (इतरेषाम्) यह बहु वचन व्यक्तियों के आनन्त्य के अभिप्राय में है ॥४६॥ ('साक्षात्') इत्यादि से उक्त लक्षण में लक्षित परमात्म स्वभाव का श्री याज्ञवल्क्यजी ने कहोलके प्रति विशेष रूप से प्रतिपादन किया।

अब उक्त ब्रह्म के यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण सब कर्मों के त्यागकों (संयास को) कहते हैं संन्यास) इस नाम में दो पद हैं—एक तो 'सं' पदहै और दूसरा न्यास पद है वहां 'सं'पदका तो सम्यक पन अर्थ है। और 'न्यास' पदका त्याग अर्थ है। सदा सर्व काल विषय तथा सर्वदेश विषय सर्व पदार्थों का शरीर मन वाणी करके त्याग करना सन्यास का अर्थ है।

उत्पन्न सम्यग्ज्ञानस्य संन्यासो लक्षणं यतः॥
साधनं च तदुत्पत्तौ संन्यासस्तत्र गम्यताम्
॥ वृ० वा० ३-५-३० ॥

यहाँ पर विद्या साधन और विद्या का लक्षण—इन दोनों का प्रतिपादन करना अभिष्ट है, सन्यास भी उभय स्वरूप है, जिस पुरुष रत्न को आत्मा का समीचीन ज्ञान होगया है उसका लक्षण सन्यास है। कर्म फल के लिए किया जाता है। जब ज्ञानी ऐहिक और आमुष्मिक सम्पूर्ण फलों से वीतराग हो जाता है, तब प्रयोजन के अभाव से कर्मों का त्याग कर देता है,

अतः संन्यास ज्ञानी का लक्षण है। और आत्मज्ञान की उत्पत्ति में संन्यास साधन भी है। साधन सम्पत्ति में वैराग्य मुख्य है। अनभिसन्धि पूर्वक कर्मों के अनुष्ठान से चित्त शुद्धि होती है और उसके द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस लिए उसे ज्ञान साधन कहना भी समुचित ही है॥ ३॥

(श्रुतिः) एतं वै तमात्मानं विदित्वा
ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च
वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च
व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति
॥ बृ० ३-५-१ ॥

उस पूर्वोक्त आत्मा को ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा वित्तैषणा, और लोकैषणा से अलग हट कर भिक्षाचर्या से विचरते हैं॥१॥

पूर्वं विदित्वा पश्चात्तु व्युत्थायेत्यन्वयाच्छ्रुतात्॥
विद्वत्संन्यास आभाति ब्रह्मबोधफलात्मकः
॥ बृ० वा० ३-५-३४ ॥

'विदित्वा व्युत्थाय' ऐसा और पाठक्रम है इसके अनुसार यह अर्थ होता है कि प्रथम आत्मज्ञान और तदनन्तर सन्यास । यह विद्वान् का लक्षण भूत स्वभाव है।

इसीको ब्रह्मबोधफलात्मक संन्यास कहते हैं। यहां वेदन दो प्रकार का है- एक साक्षात्कार और दूसरा प्रयोजक ज्ञान। प्रथम पक्षमें साक्षात्कार से जो व्युत्थान होता है, वह आत्मस्वरूपके ज्ञानके बाद होता है। वह ब्रह्मस्वरूप से अवस्थानस्वरूप है। इसमें विधि नहीं हो सकती, कारण कि अद्वैतात्माके साक्षात्कारके बाद कार्य के साथ अज्ञान का नाश हो जाता है, अतः जब द्वैत-मात्रकी निवृत्तिहोनेसे अधिकारी आदिका ज्ञान नहीं रहता, तब विधिकी क्या सम्भावना ? विधि द्वैतभानकाल में ही होती है अन्यत्र नहीं। द्वितीय पक्षमें सङ्गवेदाध्ययनके कर्ता के प्रति संन्यास पूर्वक श्रवण आदिके प्रयोजक शब्दजन्य बुद्धि यही 'विदित्वा' शब्दसे कही जाती है, जो साक्षात्कारके लिए संन्यास विधि समुचित है॥

विदुषः कृतकृत्यत्वात् स्मार्त्तं संन्यासलिंगकम्
आश्य आश्रममात्रैकशरणानामितीरितम्
॥ बृ० वा० ३–५–४० ॥

(शंका) यदि विद्वान् सर्वथा परिग्रहसे उदासीन है तो दण्ड का भी उसे परिग्रह नहीं करना चाहिए ? हाँ कृतकृत्य विद्वान् दण्डका त्याग करता है। (शंका) दण्ड भी स्मार्त्त संन्यासका चिन्ह है अतः उसका त्याग करना अनिष्टापत्ति है। (समाधान) नहीं इष्टापत्ति ही है, अनिष्टापत्ति नहीं। (शंका) त्रिदण्डेन यतिश्चरेत इत्यादि स्मृतिबोधित लिंगसे रहित यति कैसे हो सकता है। (समाधान अव्यक्त लिङ्गा अव्यक्ताचाराः इत्यादि श्रुतियों से विद्वान् संन्यासी लिङ्गसे (दण्डादिसे) रहित ही होता है। वस्तुतः स्मृति आदि शास्त्र अविद्वान्विषयक ही हैं, अतः विधि और निषेध भी अविद्वत्संन्यास विषयक ही हैं। विद्वान् तो उक्त विधि-निषेध से परे है, अतएव भाष्यकारने स्पष्ट कहा है कि (स्मार्तलिङ्गमा श्रममात्रशरणानां जीवनसाधनं पारिव्राज्यलक्षणम्।

इत्यादि। अर्थात् ज्ञानके बिना केवल लिङ्गधारण जीवन निर्वाहके लिए होता है दण्ड आदिके धारण से समुचित आदरके साथ भिक्षा मिलेगी इस बुद्धिसे ज्ञानोपयोगी व्यापारसे शून्य दण्ड आदिक का धारण करते हैं ॥ ४७ ॥

फलात्मकोऽयं संन्यासस्तत्त्वविद्यापुरः सरः
अन्यो विविदिषा त्याग आपातज्ञानरूपकम्
। बृ० वा० ३-५-४६।

संन्यास दो प्रकार का होता है—एकतत्त्वविद्या पुरःसर, जिसको फलात्मक कहते हैं और दूसरा आपात ज्ञान रूप जिसको विविदिषा त्याग कहते हैं ॥ ४६ ॥

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्
इत्यादिश्रुतिषु स्पष्टं साधनत्वमुदीरितम्
॥ बृ० वा० सार ३-५-५२ ॥

सबके मतमें त्याग ही मोक्षका उत्तम साधन है। (शंका) 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मज्ञान मोक्षका साधन माना गया है। त्याग मोक्षसाधन

कैसे ? (समाधान) मोक्षपद से औपाधिक ज्ञानपरक है, उक्त ज्ञान का साधन त्याग है अथवा ज्ञान द्वारा त्याग ही मोक्ष का साधन है, श्रुतिमें भी ऐसा ही कहा गया है यथा—

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः (तै०)

इस श्रुति में त्याग मोक्षका साधन है यह स्पष्ट है। इससे श्रेयपणा त्याग श्रुति में कहा है।

अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्
इति बोधो दृढो यस्य तदा भवति भैक्ष्यभुक्
॥ नारदपरि० उ० ॥

जिस को वासुदेवनामक अव्यय परब्रह्म में ही हूं ऐसा दृढ बोध हो चुका है तब वह भिक्षाभोजी होता है।

परं ब्रह्म परिज्ञाय प्रव्रजेद् ब्राह्मणोत्तमः

उत्तम ब्राह्मण परब्रह्म को भलि भांति जान कर सन्यास ग्रहण करे।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्॥
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्
॥ गीता ५-८ ॥

शङ्करानन्दी भाष्यानुसार टीका—

तत्त्ववित्—आत्मा के याथात्म्यको जाननेवाला—युक्त—अपनी (आत्मा की) कूटस्थत्व, असङ्गत्व और बाहर भीतर पूर्णत्व के दर्शन रूप प्रज्ञा से युक्त होकर स्वयं बाहर देखता हुआ सुनता हुआ सूंघता हुआ भक्षण करता हुआ चलता हुआ सोता हुआ श्वास एवं उच्छ्वास लेता हुआ बोलता हुआ छोड़ता हुआ पकड़ता हुआ पलक खोलता हुआ एवं बन्द करता हुआ भी इन्द्रियों के अर्थों में—शब्दादि विषयों में इन्द्रियाँ ही व्यापार करती हैं मैं देखने वाला सुनने वाला सूंघने वाला खाने वाला चलने वाला आदि

नहीं हूं. इस प्रकार की वृत्ति को ही सर्वदा धारण करता हुआ उन २ कर्मों को इन्द्रियां ही करती हैं, मैं तो अविक्रिय होने से कुछ नहीं करता किन्तु तत्-तत क्रिया का साक्षी होने के कारण निष्क्रिय स्वरूप से चुपचाप ही रहता हूं ऐसा माने। यानी अपने को तत्-तत् स्थल में निष्क्रिय ही देखे। देह-इन्द्रियों के व्यापार में 'मैं मेरा' ऐसी भावना का त्याग कर विद्वान को चुपचाप (तूष्णीं) रहना चाहिए। इस प्रकार अपने को ब्रह्म ही देखने वाले ब्रह्मवित् को दुष्ट अदुष्ट अन्न के स्वीकार से प्राप्त होने वाले पाप और पुण्य का लेप नहीं होता यह सिद्ध हुआ॥ ८।६ ॥

(संकल्प वासना को त्याग करके ठोस रहे) अब इस प्रमाण में श्रुति कहती है—

संशांतसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा
॥ महो० ५-६ ॥

सारे संकल्पों की सम्यक् शांति से शिला के समान जो निश्चेष्ट स्थिति होती है. जो जाग्रत अवस्था तथा

स्वप्न अवस्था से विनिर्मुक्त होती है वह परा स्वरूप स्थिति कहलाती है। यह अन्य श्रुति से भी जानी जाती है यथा—(सा काष्ठा सा परा गतिः) इत्यादि मे यही पराकाष्ठा है और यही परा गति है, और यही तूष्णीं स्वरूप तुरीयावस्था है।

॥ कवित्त नं० १६ ॥

जानगया तो जानगया जनाने की जरूरत नहीं अनजान है के जिसे रूप को छिपाया है॥ पांडित्य न बालसम साधुना असाधु नहीं वर्णाश्रम लिंगहीन ईश पद पाया है। देवोंकी महिमा जैसे मूर्खों को पावे नहीं ऐसे ही भेद तेरा देवों को न पाया है। बुद्धि मन वाणी की जहां पर गम नहीं रामाश्रम तुरीय पद तूष्णीं ही बताया है।

अब उसी श्रुति का शेष भाग कहते हैं—

(श्रुतिः) तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च

पाण्डित्यं च निर्विद्याथमुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ० (बृ० ३-५-१)

पाण्डित्यबाल्यमौनानि श्रवणादीनि तैरयम् भवति ब्राह्मणस्तच्च ब्राह्मणं ब्रह्मरूपता

॥ बृ० वा० ॥ ३-५-६७ ॥

पाण्डित्य से श्रवण बाल्य से मनन मौन से निदिध्यासन प्रकृत में विवक्षित है यहां पर ब्राह्मण पद से ब्रह्मस्वरूपता की विवक्षा है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होता है।

श्रवणं शास्त्रतात्पर्यनिश्चयो मननं पुनः अर्थासम्भावनोच्छित्त्यै युक्तीनामनुचिन्तनम्

॥ बृ० वा०सार ३-५-७० ॥

शास्त्र तात्पर्यका निर्णय श्रवण है, शास्त्र तात्पर्य गोचर अर्थ में ही प्रमाण होता है यदि शास्त्र का तात्पर्य वाच्य अर्थ में रहता है तो वाच्य अर्थ

में ही प्रमाण है यदि लक्ष्य अर्थ में तात्पर्य वाच्य होता है तो लक्ष्य में ही प्रमाण होता है। इस लिए तात्पर्य का निश्चय ही श्रवण है श्रवण से केवल शब्द प्रत्यक्षमात्र विवक्षित नहीं है, किन्तु श्रवण प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाला बोध विवक्षित है। श्रुतअर्थ में असम्भावना की निवृत्ति केलिए श्रुतार्थोप पत्ति के लिए युक्तियों का अनुचिन्तन करना मनन है ॥७०॥

विद्वानों का बल आत्मज्ञान ही है कर्मजन्य धर्मादि नहीं इसी अभिप्राय से आगे वार्तिक है—

नैवाऽऽत्मा बलहीनेन लभ्य इत्यपरा श्रुतिः
अनाविष्करणं बाल्यं दम्भादेरिति सूत्रकृत्
॥ बृ० वा० ३-५-७२॥

बल हीन को आत्मा लभ्य नहीं है यह दूसरी श्रुति है। दम्भ आदि का आविष्कार बाल्य है, यह सूत्रकार ने कहा है। यथा सूत्र—

॥ अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ब्र० सू० ३-४-५०॥

ज्ञान अध्ययन और धार्मिकत्व आदि से अपनी ख्याति न करता हुआ, दम्भ, दर्प आदि से रहित हो. जैसे इन्द्रिय के प्ररूढ न होने से बालक अन्यके आगे अपने को प्रगट करना नहीं चाहता, वैसे ही विद्वान दूसरे के सामने अपना आविष्करण न करे. (बाल्य शब्द से यही ग्रहण है) क्योंकि इस प्रकार वाक्य का प्रधानका उपकारक अर्थ उपपन्न होता है। उसी प्रकार स्मृति कारों ने कहा है—

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः
॥ नारद परि॰ उपनिषत् ॥

गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत ॥
अव्यक्तलिंगोऽव्यक्ताचारः॥इति चैवमादि।५०॥

जिस को कोई सत या असत् अश्रुत या अबश्रुत सुवृत्त या दुर्वृत्त नहीं जानता. वह ब्राह्मण है ॥ गूढ धर्म का पालन करता हुआ विद्वान दूसरों से अज्ञात चरित

रहे, अन्धे के समान जड़के समान और मूक के समान पृथिवी में विचरण करे और (जिस का चिह्न व्यक्त (प्रगट) नहीं है, आचार व्यक्त(प्रगट) नहीं है ऐसा रहे इत्यादि

वर्णाश्रमाचारयुताविमूढाःकर्मानुसारेण फलं लभन्ते
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः
पुरुषा भवन्ति ॥ मैत्रेय्यु० १–१४ ॥

यहा वर्णाश्रमलिंग से-स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों का त्याग है चिह्नादि का त्याग नहीं,

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतहितस्य च
देवाऽपि मार्गे मुह्यंति अपदस्य पदैषिणः
शकुनीनामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके
यथा गतिर्न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः
॥ महाभा० शां० प० २३६-२३-२४॥

सर्व भूत(प्राणियों) का आत्मा सब भूत (प्राणियों का हितैषी जो ब्रह्मज्ञानी महात्मा है उस मार्ग में देवता भी मोह (अज्ञान) को प्राप्त होते हैं जैसे जहां

चरण चिह्न नहीं हो वहां चरण चिह्न देखना। यह दो दृष्टान्तों से दिखाते हैं जैसे पक्षी के चरण चिह्न आकाश में नहीं मिलते और मतस्य के जल में वैसे ही ज्ञानी की अलक्ष्य गति है ॥२३॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
॥ तै० उ० २-४ ॥

मन के साथ सब प्रकार की वाणी जिस को प्राप्त किये बिना ही लौट आती है ॥४॥

यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेद यदिदमुपासते
॥ केनो० १-४ ॥

जो वाणी से प्रकाशित नहीं है किन्तु जिस से वाणी प्रकाशित होती है उसी को तू ब्रह्म जान जिस इस(देश का लावच्छिकन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥४॥

षष्ठीगुणक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः
नाऽऽत्मन्यन्यतमो ऽप्येषां तेनाऽऽत्मा नाऽभिधीयते
॥ वृ०वा० १-४-६३५ ॥

षष्ठी, गुण, क्रिया, जाति, रूढि (अनादि व्यवहार सिद्ध सम्बन्ध विशेष) ये शब्द की प्रवृत्ति के हेतु हैं। आत्मा में इन में से कोई भी नहीं है इसी लिए आत्मा शब्द का भी वाच्य नहीं है।

निषेधे सति वाच्यत्वे स यज्ञानादिकान्यपि
लक्षयन्त्येव नो तत्त्वं ब्रुवते तदसम्भवात्
॥ ६-६ ॥

निषेध होने पर सत्य ज्ञान आदि पद भी लक्षक होते हैं, क्योंकि उस का कथन असम्भव है ॥६०६॥
इति क० १९ समा०

॥ कवित्त नं २० ॥

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रास्मृतिरूप पंच भेद
वृत्तियों के शास्त्रोंमें ही गाया है॥ वृत्तियों का

कारण मन अविद्या का कार्य सोई अविद्या हो नष्ट सो अदृष्ट कहलाया है ॥ आत्मासे आत्मा में संतुष्ट रहै सदा हृदय ग्रन्थि वेदन सो पारावर दृष्टि आया है ॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा-येऽस्य हृदि श्रिता रामाश्रम तुरीय पद तूष्णीं ही बताया है। वृत्ताय पञ्चतय्य ॥ सो० द० २-३३॥ च.की देखो योग दर्शनपाद १-सू०५-से ११तक

(श्रुति) स ब्राह्मणः केन स्यात् ॥ वृ०-३-५-१ ॥

(सब्राह्मणः केन स्यात्) इस श्रुति से ब्रह्मणय के साधन का प्रश्न अथवा ब्रह्मवेत्ता के लक्षण का)

आक्षेपपक्षो केन स्यान्न केनाऽपीति योजना न कर्मणा नप्रजयेत्यन्यसाधननिःयुते

॥ वृ० वा० ३-५-८२

आक्षेप पक्ष में श्रवण आदि से व्यतिरिक्त मोक्षोप-योगी ज्ञानजनक साधनान्तर नहीं है. कारण कि प्रजा

में और धन से मोक्ष नहीं होता है किन्तु केवल त्याग से (संन्यास से) ही मुक्ति होति है, इस वचन से साधनान्तर का स्पष्ट रूप से निषेध है. अतः'केन ब्राह्मणाःस्यात्' इसका उत्तर यह हैकि 'न केनापि' किसी से नहीं क्योंकि "न प्रजया न धनेन" इत्यादि श्रुति ने स्पस्ट निषेध किया है ॥८३॥ (केन) यह प्रश्न वाक्य विद्वल्लक्षणपरक है इस पक्ष में अर्थ कहते हैं—

लक्षण प्रश्नपक्षे तु येनेदृक्केन लक्ष्यताम् ॥
इत्युत्तरं वचोयोग्यं तस्यार्थः प्रविविच्यते
॥ ३-५-८ ॥

आत्मज्ञानी का लक्षण क्या है अर्थात् जिस लक्षण से ब्रह्मज्ञानी का परिचय हो किइस प्रकार का ब्रह्मज्ञानी होता है, वह लक्षण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के योग्य जो वाक्य है उसके अर्थ का विचार किया जाता है ।८४॥ इस प्रश्न पर विचार करने के लिए श्रीमद्भगवत गीता के द्वितीय अध्याय में अर्जुन ने प्रश्न किया है—

कि श्रवण और मनन से जिस ने आत्मतत्त्व को जान लिया है उस विद्वान् की समाधि से प्रज्ञास्थिर है

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्
॥ गी० ॥ २-५४ ॥

हे केशव ! समाधिस्थ यानी जिस की केवल ब्रह्माकार से निश्चल है प्रज्ञा यानी बुद्धि जिस की वह समाधिस्थ है यह विद्वान स्थितप्रज्ञ क्या बोलता है ऐसा पण्डितों से कथ जाना जाता है यह अर्थ है यह समाधि विषय प्रश्न है। एवंस्थितप्रज्ञ क्या बोलता है कैसे रहता है कैसे जाता है यह उत्थान०

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते
॥ गीता ॥ २-५५ ॥

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा और स्मृति के भेद से पांच प्रकार की काम सङ्कल्प आदि मनोवृत्तियों का

जो त्याग कर देता है, वही स्थित प्रज्ञ कहलाता है। कामादि आत्यधर्म नहीं है भ्रम से आत्मगत प्रतीत होते हैं अतः वे त्याग के योग्य हैं - काम किस से उत्पन्न होता है। सुन—

'काम जानामिते मूलं सकंल्पात् किल जायसे)'

स्मृति है। इस अभिप्राय से 'मनोगतान्' कहा है। मनोधर्म होने से मन का त्याग करने से उन का भी स्वयं त्याग हो जाता है। इसी को हृदय ग्रन्थि कहते हैं "कुसुमवच्च मणि" सांख्य द० ३--३५

भिद्यते हृ.यग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशया।मुं ड्रं०।

हृदयग्रन्थि बुद्धि में स्थित अविद्या वासनामय काम को कहते हैं इस के त्याग से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और सब संशय नष्ट होजाते हैं और परमानन्द रूप स्वात्मा प्रकाश चिद्रूप आत्मा से ही वह संतुष्ट होता है क्योंकि परमपुरुषार्थ के लाभ से परितृप्त हो गया है

श्रुतिः) यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्यहृदिस्थिता।
अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते
॥ क० ॥ २-३-२४ ॥

इस साधक के हृदय में स्थित जो कामनाएं हैं। वे सब की सब जब समूल नष्ट हो जाती हैं तब ये मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और वह यहीं ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है ॥इति॥

॥ कवित्त नं० २१ ॥

दुःख में उद्वेग नहीं सुख की न स्पृहा। जिमे
राग भय क्रोध नहीं दृष्टि में आया है। सर्वत्र
स्नेह त्याग निंदा न प्रशंसा नहीं हीन प्रियाप्रिय-
शुभाशुभ बीच पाया है। वहि 'वःणोअन्तःकरण-
शमदमस वश करे मनोमथ आत्मा परायण
कहलाया है। समभाव एक दृष्टि सदास्थिरप्रज्ञ-
सोई रामाश्रम तुरीय पद तृष्णी ही बताया है।

मुमुक्षु को इस साधन का अवश्य साधन करना चहिए यह सुचित करन के लिए दूसरा लक्षण कहते हैं

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीमुनिरुच्यते
। गीता । २-५६ ।

दुःखों में यानी दुःखदायक ज्वर शूल मस्तक पीड़ा आदि आध्यात्मिक चोरसर्प व्याघ्र आदि आधिभौतिक वार्षा वात आतप आदि आधिदैविक उपद्रवों के प्राप्त होने पर स्वयँ अनुद्विग्नमन वाला यानी 'क्या करूं कहां जाऊं' इस प्रकार के विक्षेपजनित व्यथा से जिस का मन रहित हो वह अनुद्विग्नमन वाला यानी समाधि निष्ठ होने के कारण उन उपद्रवों से अक्षुब्ध तथा सुखोंमें यानी सुखदायक स्वयं प्राप्त हुए भी ? अन्नरस आदि में स्पृहारहित विगता बिलकुल चली गयी है-स्पृह यनी रसना आदि इन्द्रियों कीचञ्चलता जिस की वह स्पृह यानी स्वानन्दरस के आस्वाद में ही असक्ति होने के कारण विषयों में आदर रहित है । जिस के उपकार करने वाले पर राग (प्रिति) अत्यन्त अपकार

करने चले पर क्रोध और मरणहेतु के समीप आने पर भय—ये तीनों आत्मनिष्ठा से चले गये हैं यानी जिसको प्राप्त नहीं होते वह वीतरागभय क्रोध कहलाता है अर्थात् प्रीति अप्रीति और भय के हेतु और उन के कार्य प्रीति आदि का अविषयीभूत यह भाव है दुःखादि में विषाद आदि का उदय न होने में हेतु कहते हैं— 'मुनि' जो सुने हुए देखे हुए और छुए हुए सब पदार्थों को प्रत्येक दृष्टिसे ब्रह्म ही मानता है और जानता है, तत्-तत आकार से नहीं इस लिए मुनि ब्रह्मनिष्ठ ही है। इस प्रकार के लक्षण वाले को स्थितधी, स्थितप्रज्ञ, और सिद्ध कहते हैं। इस से दुःख आदि बाह्य आलम्बन से रहित एवँ सत् ब्रह्ममें निष्ठा वाले कोही सम्यक् ज्ञान होता है और सम्यक् ज्ञान वाले को ही विदेह मुक्ति होती है ऐसा सूचित होता है।

(संसिद्धो ब्रह्मविद्यातिरापत्सु न किंचिद्वदति किंतु तूष्णीमेवस्वात्मनातिष्ठतीति (शंकरानंदीव्याख्या))

संसिद्ध ब्रह्मवित् यति आपत्ति में और संपत्ति में कुछ नहीं कहता किन्तु स्वय चुप ही बैठता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्
नाऽभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञाप्रतिष्ठिता
॥ गीता ॥ २-५७ ॥

जो समाधि में प्रवृत्त यति कंथा कौपीन आदि सर्व का ग्रहण करने में देह के जीवन में भी अनभिस्नेह यानी अत्यन्त आसक्ति रहित होता है, प्रारब्धाधीन जो शुभ यानी अनुकूल आजाता है उस से प्रसन्न नहीं होता और जो अशुभ यानी प्रतिकूल आ जाता है उस से द्वेष नहीं करता किन्तु हर्ष और विषाद से रहित और सर्वत्र समबुद्धि हो कर समाधि में ही स्थित रहता है उस की प्रज्ञाप्रतिष्ठित होती है ज्ञान निष्ठा सिद्ध होती है ॥५७॥

यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता
॥ भ० गी० ॥ २-५८ ॥

जो यह ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्तयति है, वह जैसे कछुआ दूसरों के भय से अपने सब अंगों को भली भांति

तत-तत समय में अपने में उपसंहार कर लेता है, वैसे ही इन्द्रियों के अर्थों से यानी तत-तत विषयों से भय से रागादि दोषों की प्रसक्ति के भय से और समाधि में विघ्न होने के भयसे वाक् आदि और चक्षु आदि सब इन्द्रियों का जब स्वंय अपने में, समाधि की स्थिति के लिए उपसंहार कर लेता है यानी उन की प्रवृत्ति को रोक लेता है तब उस की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥४८॥ यही तुरीयरूप तूर्ष्णी अवस्था है।

॥ कवित्त नं० २२ ॥

दुःख सुख आलस्य निद्रा प्रकाश प्रवृत्ति मोह कारण सत्व् रज, तम,नाम जिसका माया है। प्रवृत्त मे दुःख और निवृत्ति सुख होवे माया-अविद्यारूप परमार्थ न पाया है। अविद्या विद्य-मान नहीं मिथ्या करके त्याग दई गुणातीत-लक्षण यह स्वतन्त्र्य कहलाया है। प्रवृत्ति में दुःख नहीं निवृत्ति में सुख कोई गमागम तुरीय पद तृष्णीं ही बताया है।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति

॥ भग० गीता ॥ १४-२२ ॥

गुणों का और गुणों के कार्यों का स्वयं अविषय होकर और उन दोनों का चिद्वृत्ति से भलीभांति अति क्रमण कर जो ब्रह्म में ही सदा ब्रह्म स्वरूप में स्थित रहता है, वह गुणातीत ब्रह्मवित्, यति 'प्रकाश' (विषय के सुख और ज्ञान दोनों में आसक्ति करने वाला चित्त और इन्द्रियों का रसास्वाद रूप प्रसाद सत्व विकार भूत समाधि का अन्तराय (विघ्न) प्रकाश है) प्रवृत्ति (रज का कार्य रागमूलक विक्षेपरूप मन और इन्द्रियों का बाह्य विषय प्रावण्य यानी विक्षेप रूप समाधिका अन्तराय (विघ्न) यानी इन्द्रियों की विषय में प्रवृत्ति) तथा मोह (तमोगुण का विकार निद्रा आलस्य और प्रमाद को देने वाला लय और कषायरूप है यह समाधि का अन्तराय (विघ्न) है। इन सत्रज और तम के कार्य भूत प्रकाश प्रवृत्ति और

मोह के भलीभांति प्राप्त होने पर भी उन से द्वेष नहीं करता क्योंकि उन का विषय चिदाभास है और अपना उन से सम्बन्ध नहीं है, अतः किञ्चित् भी विक्षेप को प्राप्त नहीं होता। जैसे निदिध्यासन करने वाला साधक यदि रसास्वाद [सविकल्पक रसास्वाद] विक्षेपलय (अखण्ड वस्तु के अनवलम्बन से चित्त-वृत्ति की निद्रा) और कषायरूप [लय और विक्षेप का अभाव होने पर भी रागादि की वासना से स्तब्धी भाव द्वारा अखण्ड वस्तु का अनवलम्बन] प्रकाश आदि जो समाधि के विघ्नभूत और सत्व आदि गुणों के कार्य हैं प्राप्त हो जांय तो वह उन से द्वेष करता है। ये मेरी समाधि के विघ्न प्राप्त हुए ऐसा समझ कर विक्षिप्त होता है और उन की निवृत्ति चाहता है उन की निवृत्ति के लिए दृश्य की निन्दा आदि प्रति क्रिया करता है। वैसे ही यह गुणातीत संसिद्ध यति यदि प्रकाश आदि प्राप्त हो जांय, तो उन से द्वेष नहीं करता और न उन की निवृत्ति की आकाँक्षा करता है केवल चित्त का विलास होने से ब्रह्मदृष्टि में अन्तर्भाव

होने के कारण उन की निवृत्ति की भी अपेक्षा नहीं करता यह अर्थ है। अनात्मतादात्म्य का अध्यास होने पर ही रागद्वेष आदि होते हैं। नित्य निरन्तर निर्विकल्प समाधि रूप अग्नि से मैं मेरा रूप अध्यास जनित बन्धन के जल जाने पर विद्वान् में राग द्वेष आदि अनात्म गुणों का आविर्भाव नहीं होता इस से यह सूचित होता है कि विक्षेप कारक गुण कार्यों के प्राप्त होने पर भी द्वेष आदि का अभावगुणातीत का आन्तर् लिङ्ग स्वप्रत्यक्ष है॥

॥ कवित्त नं० २३ ॥

तुल्य प्रियाप्रियो धीर निंदा और स्तुति तुल्य उदासीन चले नहीं गुणों का चलाया है। सम दुःख सुख जिसको आत्मा में स्थित जो है पत्थर मिट्टी कांचन समान दृष्टि आया है। मान अपमान तुल्य मित्ररिपुवर्ग तुल्य सर्वकर्म त्यागी गुणातीत कहलाया है। ऐसे आचार

होवै जिसके त्रिगुणातीत सोई रामाश्रम तुरीय पद तूष्णीं ही बताया है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते
॥ म० भ० गीता ॥ १४-२३ ॥

तटस्थ के समान साक्षी रूप से दूर रहने वाले जिस ब्रह्मविद् यति को सात्त्विक प्रकाशादि गुण ब्रह्मनिष्ठा से विचलित नहीं करते तथा देह आदि ही विषयों में प्रवृत्त होते हैं, आत्मा नहीं, इस बुद्धि से जो सदा आत्मस्वरूप में अवस्थित रहता है किञ्चितभी विचलित नहीं होता [वह गुणातीत कहलाता है] ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः
॥ गी० ॥ १४-२४ ॥

दुःख और सुख दोनों जिस को समान हैं चित्त का इष्ट और अनिष्ट भावना से रहित होना यही सम-

चित्तत्व है। स्वस्थ (सब अवस्थाओं में सर्वदा अपने में ही परब्रह्म में उसी स्वरूप से जो स्थित रहता है वह केवल ब्रह्मवित् ही स्वस्थ) कहा जाता है। प्रिय इष्ट अप्रिय अनिष्ट दोनों जिस को समान हैं मिट्टी पत्थर और सोने में समदृष्टि यानी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि वाला, 'धीर' आभास की वासना से बहिर्मुख बुद्धि को जो रोकता है यानी अपने आकार से स्थापन करता है वह धीर है। निन्दा यानी दूषण आत्मा के देहादि के गुण कीर्तन यानी स्तुति तुल्य है। सुख और दुःख प्रिय और अप्रिय आदि में सम होना विद्वान् की जीवन्मुक्तता में पर प्रत्यक्ष लिङ्ग है। यह सूचित होता है।

मानावमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते
॥ गी० ॥ १४-२५ ॥

मान अपमान में तुल्य है निर्विकार रूप हर्ष विषाद रहित, यद्यपि सब को ब्रह्म ही देखने वाले ब्रह्मवित यति की प्रिय अप्रिय मित्र अमित्र आदि में भेद दृष्टि

नहीं हो सकती तथापि जिस का इष्ट के समान उप-
भोग करता है वह प्रिय है जिस का अनिष्ट के समान
त्याग करता है वह अप्रिय है जो ब्रह्मवित् के आचार
को देख कर प्रसन्न होता है वह मित्र पक्ष है और जो
प्रसन्न नहीं होता वह शत्रु पक्ष है ऐसा लोक दृष्टि
से प्राप्त होता है वह मित्र और शत्रु पक्ष वाले केवल
अपने बुद्धि दोष से ही मित्र और शत्रु भाव को
प्राप्त हुए हैं उन दो प्रकार के प्राणियों में तुल्य
है अर्थात् समदर्शी है इष्ट और अनिष्ट फल के
जनक श्रौत, स्मार्त और उपासना रूप सम्पूर्ण आश्र-
मोचित कर्म, शरीर स्थिति हेतु कर्मों से भिन्न सारे लौ-
किक कर्मों का भी 'सर्वारम्भ' इस पद में स्थित सर्व
शब्द से ग्रहण किया जाता है ब्रह्म भाव की प्राप्ति से
सकल कामनाओं की पूर्ति हो जाने के कारण सर्वा-
रम्भ साध्यशून्यत्व बुद्धि से कर्मों का त्याग करने
का जिस का शील है, वह सर्वारम्भ परित्यागी है।
ब्रह्म भाव को प्राप्त हुए आप्तकाम श्रोत्रिय निष्काम ब्रह्म
वित् के लिए कर्म से ऐसा कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है

जिस के लिए कर्म की कर्तव्यता प्राप्त हो इस लिए ब्रह्मवित् का सर्व कर्म संन्यास युक्त ही है यह सिद्ध हुआ निष्कर्मत्व विद्वान् की जीवन्मुक्तता में पर प्रत्यक्ष लिङ्ग है यह भी सूचित होता है। इति शङ्करानन्दी व्याख्या। श्री भाष्यकार लिखते हैं— 'स्वसंवेद्यं सत गुणातीतस्य यतेः लक्षणं भवति इति।

वन्धो मोक्षश्च तृप्तिश्च चिंतारोग्यक्षुधादयः
स्वेनैव वेद्या यज्ज्ञानं परेषामानुमानिकम्
॥ वि० चू० ॥ ४७६ ॥

बन्ध मोक्ष और तृप्ति और चिंता आरोग्य क्षुधा आदि को जिस प्रकार मनुष्य आप ही जानता है उसी प्रकार तत्त्ववेत्ता को तत्त्ववेत्ता ही जानता है अन्य तो अनुमान ही लगाता है।

आक्षिप्यते यदा लक्ष्म तदाऽभिप्राय उच्यते
नियतं लक्षणं किञ्चिन्न ह्यस्ति ब्रह्मवेदिनः
॥ वृ० वा० ॥ ३-५-८७ ॥

यदि लक्षण का आक्षेप है तो प्रष्टा का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मज्ञानी का कोई लक्षण ही नहीं है, जिस से यह निश्चय किया जाय कि यह ब्रह्मज्ञानी इस लक्षण से युक्त है, क्योंकि ज्ञानी अनेक प्रकार के देखे व सुने जाते हैं। यदि कोई नियत आचरण आदि होते, तो यह कहा जाता कि ऐसे आचारादि ब्रह्मवेत्ता में नियम से पाये जाते हैं, अतः ये ही लक्षण हैं। पर सम्पूर्ण विद्वानों में कोई नियत धर्म नहीं देखे जाते इस लिए उन के लक्षण नहीं हैं।

रागी कश्चिद्विरक्तोऽन्यः क्रुद्धोऽन्यः शांतिमान् परः
प्रारब्धभोगनानात्वात् कथं लक्ष्म नियम्यते
॥ वृ० वा० ॥३-५-८८॥

कोई महात्मा रागी होते हैं, कोई विरक्त होते हैं, कोई क्रोधी होते हैं, और कोई शांत स्वभाव होते हैं, क्योंकि प्रारब्ध कर्म अनेक विध होते हैं, अतः प्रारब्ध के अनुसार ही बरताव होता है ॥८८॥

भावाभावोभयध्वंसीब्रह्म वेद्यं ततः श्रुतिः
"येनेदृगेव" तेनेति लक्षणं तद्विदोऽब्रवीत
॥ बृ० वा० सार ॥ ३-५-६२ ॥

(शंका) 'तद्यथा अहिनिर्ल्वयिनी' इत्यादि श्रुति तथा 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादि प्रश्नोत्तर बोधक स्मृतियों में तत्त्ववेत्ता का लक्षण पाया जाता है फिर आप कैसे कहते हैं कि आत्मज्ञानी का लक्षण नहीं हो सकता ? (समाधान)—

लक्षण दो प्रकार के होते हैं एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक। पृथिवी का गन्ध लक्षण भावात्मक है। गुण आदि का निर्गुणत्व आदि लक्षण अभावात्मक है। ब्रह्म भावाभावोभयध्वंसी है, यानी भाव और अभाव दोनों से शून्य है। इस लिए दोनों प्रकार के लक्षण ब्रह्ममें नहीं हैं। यहां ध्वंस पद अभाव का बोधक है, न्यायमत के अनुसार जन्य अभाव विशेषका बोधक नहीं है, क्योंकि वेदान्त में ब्रह्म से अतिरिक्त सब अनित्य हैं इस लिए जन्यत्व विशेषण अभाव में व्यर्थ है। (शंका) ब्रह्म सकल धर्मों से शून्य भले ही हो

उसके लक्षण का तो यहां प्रश्न नहीं है। प्रश्नतो ब्रह्मज्ञानी के लक्षण का है ? (समाधान)—

श्रुति स्वयं उत्तर देती है- 'येनेदगेव' इत्यादि। जिस अद्वैतात्म बोध से वेद्यब्रह्म उक्त उभय धर्म से शून्य माना जाता है, उसी बोध से तद्वेत्ता ज्ञानी भी तथाविध उभयधर्म से शून्य है इस लिए उस का भी लक्षण असम्भव है। 'तदिवायं दृश्यत इति ईदृक्' यानी ब्रह्मविद् ज्ञानी भी सँसार धर्मों से अतीत है, इस लिए ज्ञानी ब्रह्म लक्षण ही है। सत्य,ज्ञान,आनन्द आदि स्वरूप लक्षण ब्रह्मज्ञानी का ही हो सकता है। उस से अतिरिक्त नहीं अतएव श्रुति ने स्पष्ट ही कहा है—'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' एवकार से सम्पूर्ण धर्मों का निषेध प्रकृत में विवक्षित है, इस से तद्भावापत्ति मोक्ष हो श्रुतिसम्मत है, तत्सालोक्यादि मोक्ष गौण हैं, मुख्य नहीं, यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है ॥६२॥

ब्रह्म याहक्तादृगेव भवेद्विद्वान्निबोधतः
बोधोऽतो लक्षणं तस्य बोधश्च स्वात्मसाक्षिकः
॥ बृ॰ वा॰ ३-५-६३ ॥

ब्रह्म जैसा है वैसाही ज्ञानीभी होता है इस में कारण है ब्रह्म का यथार्थानुभव। ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप बोध है, इस लिए मुक्त का भी स्वरूप लक्षण बोध ही है, वह प्रकृत में प्रत्यक्षानुभव स्वरूप है सो स्वात्मसाक्षिक है ॥६३॥ इति

॥ कवित्त नं० २४ ॥

वेद पारगामी जिनके रागभयक्रोध नहीं कल्पनामे हीन दृष्टि शांत पद आया है। जगत् में विचरण करते दृष्टि में आवे ऐसे जडोन्मत्त वालसम व्यवहार दरशाया है। चलाचल निकेत स्वधाकार नमस्कार नहीं यदृच्छालाभसन्तुष्ट कहलाया है। तत्त्वीभूत तत्त्व में रमण कभी न्यारा नहीं रामाश्रम तुरीय पद तूष्णीं ही बताया है।

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः
॥ मां० का० ॥ २-३५ ॥

जिन के राग भय और क्रोधादिक समस्त दोष निवृत्त हो गये हैं उन मुनियों द्वारा अर्थात् सर्वदा मनन शील विवेकियों और वेद पारगामियों यानी वेदार्थ के मर्मज्ञ वेदान्तार्थ परायण तत्त्वज्ञानियों द्वारा यह सब प्रकारके विकल्पों से रहित निर्विकल्प और प्रपञ्चोपशम द्वैतरूप भेद के विस्तारका नाम प्रपञ्च है उसकी जिस से निवृत्ति हो जाती है वह आत्मा प्रपञ्चोपशम है इस लिए जो अद्वैत है ऐसा यह आत्मा पण्डित यानी वेदान्तार्थ में तत्पर दोषहीन संन्यासियों द्वारा ही देखा जा सकता है। जिस के चित्त रागादि दोष से दूषित हैं और जिन के दर्शन अपने पक्षका आग्रह करने वाले हैं उन अन्य तार्किकादि को इस आत्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता यह इसका अभिप्राय है ॥३५॥ यह अर्थ भाष्यानुसार है।

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम्
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत्
॥ मां० का० ॥ २-३६ ।

इसलिए इसे ऐसा जान कर अद्वैत में मनो निवेश करे अर्थात् अद्वैत बोध के लिए ही चिन्तन करे। और उस अद्वैत को जानकर अर्थात् 'मैं ही परब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान प्राप्त कर यानो सम्पूर्ण लोक व्यवहार से शून्य, भोजनेच्छा आदि से अतीत साक्षात् अपरोक्ष अजन्मा आत्मा को अनुभव कर लोक में जडवत् आचरण करे। तात्पर्य यह है कि 'मैं ऐसा हूँ' इस प्रकार अपने को प्रकट न करता हुआ व्यवहार करे॥ ३६ ॥

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्
॥ मां० का० ॥ २-३७॥

यति को स्तुति, नमस्कार और स्वधाकार (पैत्र्य-कर्म) से रहित हो चल (शरीर) और अचल

(आत्मा) में ही विश्राम करने वाला हो कर यादृच्छिक (अनायास लब्ध वस्तु द्वारा सन्तुष्ट रहने वाला) हो जाना चाहिए ॥ ३७ ॥

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्वं दृष्टवातु वाह्यतः ।
तत्वीभूतस्तदारामस्तत्वादप्रच्युतो भवेत् ॥
(माँ० का० २-३८)

पृथिवी आदि बाह्य तत्त्व और देहादि आध्यात्मिक तत्त्व "वाचारम्भणं विकारोनामधेयम्" इत्यादि श्रुति के अनुसार रज्जु सर्पादि के समान एवं स्वप्न या माया के समान मिथ्या है, तथा "वह सत्य है वह आत्मा है और वही तू है" इस श्रुति के अनुसार आत्मा बाहर भीतर विद्यमान अजन्मा कारण कार्य रहित अन्तर्बाह्यशून्य परिपूर्ण आकाश के समान सर्व-गत सूक्ष्म अचल निर्गुण निष्कल और निष्क्रिय है। इस प्रकार तत्त्व का साक्षात्कार तत्वीभूत और उसी में रमण करने वाला हो कर अर्थात् बाह्यरत न हो कर जिस प्रकार मन को ही आत्मा मानने वाला कोई अतत्त्वदर्शी पुरुष किसी समय चित्त के चंचल होने पर

आत्मा को भी चलायमान मान कर अपने को तत्व से विचलित और देहादि रूप समझ कर मानता है कि 'इस समय में तत्व से च्युत हो गया हूं' तथा किसी समय चित्त के समाहित होने पर अपने को तत्वीभूत और प्रसन्न समझ कर मानता है कि 'इस समय मैं तत्वस्थ हूं' उसी प्रकार आत्मपेक्षा को न हो जाना चाहिये, क्योंकि आत्मा सर्वदा एक रूप है और उसका स्वरूप से च्युत होना भी सम्भव नहीं है अतः वह सदा ही मैं ब्रह्म हूँ ऐसा निश्चय कर तत्व से च्युत न हो,तात्पर्य यह कि सदा ही आत्मदर्शी हो, जैसा कि

शुनि चैव श्वपाके च परिडताः समदर्शिनः (गी ५-१८) समं सर्वेषु भूतेषू(गी १३-२७)

कुत्ते और चाण्डाल में भी विद्वान् की समान दृष्टि होती है तथा सम्पूर्ण भूतों में समान भाव से स्थित इत्यादि स्मृतियों से प्रमाणित होता है॥ ३८॥

अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति।
ब्रह्मभूतः स एवेह वेदशास्त्र उदाहृतः॥

यहां पर जो आत्मा से अतिरिक्त द्वितीय वस्तु को नहीं देखता है वह इसी देह से विदेह स्वरूप है यानी ब्रह्म स्वरूप है ऐसा वेद शास्त्र कहते हैं ॥ यथाश्रुतिः–

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति,
नान्यद्विजानाति 'स'भूमा० (छां० २४·१)

जहां न तो अन्य को देखता है न अन्य को सुनता है और न अन्य को जानता है वह भूमा है वही आत्मा है और वही तुरीय है जिसका यह प्रकरण है।

अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचागोचरम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥
॥ वि० चू० ४७१)

जिसके स्वरूप का निश्चय किसी ने नहीं किया और जो मन वचन से अगोचर है वही एक अद्वितीय ब्रह्म नित्य है, और सब प्रपंच मिथ्या है ॥४७१ ॥ इति

॥ कवित्त नं० २५ ॥

आत्मा अनात्माका विवेचन मैं करता
नहीं विद्वानों को रुचे नहीं मेरे मन भाया है ॥

अनात्मा वस्तु नहीं दृष्टि में आवै सोई
विवेकियों को दृश्य मिथ्या श्रुति में गाया है॥
आश्चर्य यही मिथ्या विचार विवाद करते
आत्मा प्रत्यक्ष जिनको दृष्टि नहीं आया है॥
भ्रांति का पार नहीं दृढ़बुद्धि शिलावत् रामाश्रम
तुरीय पद तूष्णी ही बताया है॥

आत्मानात्मविभागोऽपि नाऽयमात्मस्पृगिष्यते
अज्ञातात्मैकसाक्षित्वादज्ञानेत्थं न वस्तुगम् ॥
॥ वृ॰ वा॰ १—४—६५५॥

यह आत्मानात्मविभाग भी आत्मा का स्पर्श नहीं करता, क्योंकि अज्ञात आत्मा ही इसका साक्षी है इस लिए यह आत्मानात्मविभाग अज्ञान से उत्पन्न हुआ है परमार्थ से नहीं है ॥ ६५६ ॥

तस्मान्नानात्मनोप्यात्मा नाऽप्यनात्माऽऽत्मनः स्वतः
आत्मानस्तु स्वतःसिद्धिर्भ्रान्तेःसिद्धिरनात्मनः ॥
॥ वृ॰ वा॰ ॥ १—४—६५७॥

इस लिए अनात्मा का आत्मा नहीं है और आत्मा स्वयं अनात्मा नहीं है। आत्मा की तो स्वतः सिद्धि है और अनात्मा की भ्रान्ति से सिद्धि होती है ॥६५७॥

सत्यासत्यविभागोऽयमविभागात्मवस्तुनि ।
प्रत्यगज्ञानहेतूत्थः पृथङ्नास्तीत्यभाषत ॥
(बृ० वा० सार १-३-१३६)

विभाग शून्य आत्म वस्तु में सत्य और असत्य विभाग आत्मा के अज्ञान से ही है, दूसरे से नहीं, यह श्रुति ने स्पष्ट कहा है— (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) नेह नानास्ति) इत्यादि।

अद्वैते द्वैत विभ्रान्तिर्द्वैते सत्यत्वविभ्रमम्।
आपादयेदियं माया रज्जुसर्पो यथा तथा ॥
(प्रमा० प० बृ० वा० ४-६)

अद्वैत में द्वैत भ्रांत और द्वैत में सत्यत्व भ्रान्ति माया (अज्ञान) के प्रभाव से होता है। जैसा कि रज्जु में सर्प भ्रान्ति और सर्प में सत्यत्व भ्रान्ति अन्धकार दोष से होती है ॥ ४०६ ॥

वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृतिर्नहि युज्यते।
अविद्या च न वस्त्विष्टं मानयोगासहिष्णुतः॥

(बृ० वा० प्रमा ११६)

वस्तु से अन्यत्र अर्थात् अवस्तु में प्रमाणों का व्यापार नहीं होता। जैसे शुक्त रूप्य आदि अवस्तु में हैं अतः उनमें कोई प्रमाण नहीं है वैसे ही अविद्या भी अवस्तु है, अतएव उसमें भी कोई प्रमाण नहीं हो सकता। प्रमाण असहिष्णुत्व–प्रमाण को सहन न करना–ही अवस्तु है ॥ ११६ ॥ (शंका— प्रत्यक्षादि प्रमाण से द्वैत ही सिद्ध होता है ? (समाधान— जैसे शुक्ति में रजत ज्ञान प्रत्यक्ष है, किन्तु 'यह शुक्ति है' इस समीचीन ज्ञान से बोधित होने पर वह रजत सत्ता का साधक नहीं होता. वैसे ही द्वैत ग्राही प्रत्यक्ष—

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ (छा० ६–१–४)

इत्यादि श्रुति से बाधित होने से अर्थ का साधक नहीं है। सो जगत् (वाचैवकेवलमारम्भ्यते न वस्तुतः)

नामधेयात्मक अखिल विकार वागारम्भमात्र है सत्य नहीं है।

अबोधकत्वान्नोमात्वं स्यादितोऽन्यार्थकल्पने।
वेदान्तानामतो ध्यानविध्याद्यर्थो न कल्प्यताम्॥
(वृ० वा० १-८१)

इससे— अद्वितीय ब्रह्म से अतिरिक्त द्वैत कल्पना करने पर अर्थात् द्वैत में प्रत्यक्षादि प्रमाण है यह मानने पर प्रत्यक्षादि विरोध से "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि वेदान्त वाक्य में अबोधकत्व लक्षण अप्रमाण्य हो जायगा अतः ब्रह्मातिरिक्त द्वैत है नहीं। इसी से ध्यानादि विध्यर्थ वेदान्त है यह कल्पना नहीं हो सकती॥ ८१॥

ऊर्ध्वं त्विष्टममानत्वमैकात्म्यमतिवाधनात्।
मानान्यपि च वाध्यन्ते मानेन प्रवलेन हि॥८४॥

ब्रह्मज्ञानोत्तर ब्रह्मात्मैकत्वबुद्धि से प्रपंच का बोध होने पर प्रमाणों में अप्रामाण्य इष्ट ही है प्रमाण भी प्रबल प्रमाण से बाधित होता, इस लिए प्रमाणों में परस्पर बाध्य-बाधक भाव नहीं होता यह कहना

व्यर्थ है। (शंका— विद्वान् भी तो जब तक शरीर रहता है तब तक प्रमाणों से व्यवहार करता है अतः कैसे कहते हैं कि ज्ञान के विध्याद् प्रमाण नहीं ? (समाधान— हां वह व्यवहार करता है, परन्तु प्रत्यक्षादि वास्तविक प्रमाण है। यह जान कर नहीं किन्तु पूर्व वासनानुवृत्तिवश उसका व्यवहार होता है ॥८३॥

एवं चाऽज्ञातमैकात्म्यं सुस्थातोऽस्यैव मेयता।
प्रत्यक्षं द्वैतवोध्यत्र दौर्बल्यान्न विरुध्यते ॥

(बृ० वा० प्र० ११६)

एकात्म्य प्रमाणान्तर से अप्राप्त हैं अतः यहां वेदान्त वाक्य का प्रमेय सुस्थिर है अज्ञात ज्ञापक ही प्रमाण है, द्वैतग्राही प्रत्यक्ष दुर्बल हैं इस लिए विरोधी नहीं है। संभावित दोष दौर्बल्य का कारण है एवं निर्दोषत्व प्राबल्य का कारण है। उक्त रीति से प्रत्यक्ष दुर्बल है और वेदान्त वाक्य प्रबल हैं, अतः समबल न होने से प्रत्यक्ष बाधक नहीं है किन्तु 'बलवता दौर्बल्यं बाध्यते' इस न्याय से वेदान्त ही प्रत्यक्ष का बाधक है।

आसन्नत्वादाश्रयत्वाद्वैशद्याच्चात्मवस्तुनः ।
तद्बोधिशास्त्रं प्रत्यक्षात् प्रबलं द्वैतबोधिनः ॥
॥ चू० वा० अधि० प० १२० ॥

प्रत्यक्ष अ_म न आदि की अपेक्षा प्रबल है इसमें बीज यह है कि अनुमेय अर्थ की अपेक्षा प्रत्यक्ष सन्नि-हित (नजदीक) विषयक होता है। दूरस्थ पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता। जहां तक चक्षुरादि सम्बन्ध हो सकता है, वहीं तक प्रत्यक्ष होता है अनुमान दूरस्थ का भी होता है अतः दूरस्थ पदार्थ विषयक अनुमान से सन्निहितार्थ बोधक प्रत्यक्ष प्रबल है अर्थात् प्राबल्य प्रयोजक सन्निहितार्थ विषयकत्व ही है। यदि प्रत्यक्ष सन्निहित विषयक होने से प्रमाण है, तो प्रत्यक्षादि विषय घटादि की अपेक्षा से अतिसन्निहित आत्मा है तद्विषयक श्रौतज्ञान को प्रत्यक्ष से भी प्रबल मानना चाहिए (श्लोकार्थ) आत्मवस्तु आसन्न आश्रय तथा अतिविशद है अतः तद्बोधक शास्त्र(वेदान्त)अनात्मनादि द्वैतार्थग्राही प्रत्यक्ष से भी प्रबल है ॥ १२० ॥

प्रत्यक्षं तद्यथाऽऽसन्नं परोक्षार्थावबोधिनः ।
सर्वंप्रत्यक्षमेतद्वद् बोधो वाक्योत्थ आत्मनि ॥
॥ १२१ ॥

जैसे दूरस्थ विपदार्थ विषयक अनुमानादिकी अपेक्षा सन्निहित विषयक प्रत्यक्ष प्रबल होता है वैसे ही वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान अतिसन्निहित आत्म विषयक होने से सबसे प्रबल है अतः द्वैतग्राही प्रत्यक्षादि का बाधक है ॥ १२१ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रत :
अविद्या सहकार्येण नासीदस्तिभविष्यति ॥
॥ अधि० प० ११४ ॥

"तत्त्वमसि" आदि वाक्य जन्य जीव ब्रह्माभेद विषयक समीचीन ज्ञानोत्पत्ति मात्र से कार्य के साथ अविद्या न थी न है और न होगी इत्यादि त्रैकालिक निषेध सिद्ध होता है ॥

आत्माऽनात्मविवेचनाऽपिममनो विद्धतक्तारोन्नतं
आत्मानास्ति यदस्ति गोचरमुः कोना विवेक्तु तम्

मिथ्यावादविचारचिन्तनमहो कुर्वन्त्यहो ह्यात्मकाः
भ्रान्तारेव न पारगाद् दृढधियस्तूष्णींशिलावत्स्थिताः

आत्मा अनात्मा का विवेचन (विभाग) करना भी विद्वानों को रुचता है मेरे को नहीं क्योंकि अनात्मा है नहीं। यदि कहो कि दृष्टिगोचर क्यों होता है ? तो कौन विद्वान् इसको जानने में समर्थ है ? क्योंकि अनुमानभी है—(विमतं कल्पितम् व्यभिचारित्वात् सर्पवत्) जिनको आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है वे अनात्मवादी मिथ्या में विचार और वाद करते हैं यही आश्चर्य है क्योंकि भ्रान्ति का कहाँ पार है ? इससे दृढ़ बुद्धिवाले शिलावत् तूष्णींभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

ब्रह्मवक्तुं न जानाति यथात्यन्त जडो जनः।
तथैवात्यन्त बोधात्मा ब्रह्मवक्तुं न बुध्यते ।२५।

जिस प्रकार अत्यन्त जड़ पुरुष यानी अनात्मज्ञमूढ़ पुरुष ब्रह्म का कथन नहीं कर सकता उसी प्रकार अत्यन्त ब्रह्मनिष्ठ महात्मा भी उसको नहीं कहता क्योंकि (न तु तद् द्वितीयमस्ति) दूसरा है ही नहीं जिसको कहे ॥ इति ॥

* अभ्यास *

॥ कवित्त नं० २६ ॥

मैं ही एक द्रष्टा चैतन्य दृश्य है प्रपंच सभी दृष्टि का गोचर सोई दर्शन कहाया है। द्रष्टा की दृष्टि का लोप कभी होवे नहीं वेद और वेदान्त में प्रमाण यह पाया है। सकृत्भासमान सोई द्रष्टा अन्य कोई नहीं दृश्य और दर्शन भ्रम उसी में दरशाया है। द्रष्टा दृश्य दर्शन और सर्व का प्रकाशक सोई रामाश्रम तुरीय पद तूष्णी ही बताया है॥ २६॥

श्रुतिः—न दृष्टे द्रष्टारंपश्य :०)

दृष्टि के द्रष्टा को कोई भी देख नहीं सकता।

उक्त वतर्मातिरेकेण नात्मवस्तु घटादिवत्।
शक्यते प्रतिनिर्देष्टुं प्रमाणागोचरत्वतः॥

॥ बृ० वा० सार ३-४-५३ ॥

उक्त प्रकार से भिन्न प्रकार से यानी घट आदि के समान आत्मा का निर्देश करना असम्भव है। क्यों? आत्मा प्रमाण का अगोचर (अविषय) है। घट आदि प्रमाण के विषय हैं इस लिए उनका प्रत्यक्ष विषयत्व रूप से निर्देश किया जाता है, आत्मा अविषय स्वभाव है अतः विषयत्व रूप से उसका निर्देश सर्वथा अशक्य है ॥ ५३ ॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां साक्षिणः स्वप्रभस्य तत।
प्रमाणागोचरत्वं तु वस्तुस्वाभाव्यतो भवेत्॥
॥ वृ० वा० ॥ ३–४–५४ ॥

द्रष्टा, दर्शन और दृश्य—इन सबका साक्षी स्वयं प्रकाश आत्मा है यह प्रमाणान्तर का अगोचर (अविषय) है, ऐसा साक्षी का स्वभाव है। जिस वस्तु का जैसा स्वभाव होता है, वह वैसी ही सदा बनी रहती है ॥ ५४ ॥

चक्षुर्जन्यमनोवृत्तिश्चिद्युक्ता रूपभासिका।
दृष्टिरित्युच्यते द्रष्टा दृष्टेः कर्त्तेति लौकिकैः॥
॥ वृ० वा० ॥ ३–४–५६ ॥

चक्षुजन्य मनोवृत्ति जब चक्षुः संयुक्त घटादि होते हैं तब उसके द्वारा मन का घटादि से सम्बन्ध होता है उस काल में घटाकारान्तःकरण वृत्ति होती है, वही चित् आत्मा से सयुक्त होकर रूप भासिका होती है उसी मनोवृत्ति को दृष्टि कहते हैं और दृष्टि कर्ता को लोग द्रष्टा कहते हैं ॥ ५६ ॥

अतो दृष्टिद्वयं वाच्यं नित्यानित्यविभेदि तत्।
मनोवृत्तिरनित्याऽन्या साक्षिचैतन्यरूपिणी॥
॥ ३-४-६० ॥

दृष्टिपद के वैयर्थ्य का वारण करने के लिये दो दृष्टियों की आवश्यकता बतलानी चाहिए, सो भाष्यकार ने बतलाई है। एक नित्य और दूसरी अनित्य। मनोवृत्ति अनित्य दृष्टि है और साक्षिचैतन्यरूप दृष्टि नित्य है॥ ६० ॥

श्रुतिः—न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।
॥ बृ० ४-३-२३ ॥

यह जो नहीं देखता सो देखता हुआ ही नहीं देखता द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता।

अविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ॥
॥ बृ० ४-३-२३ ॥

क्योंकि वह अविनाशी है उस समय उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं जिसे देखे ॥२३॥

यो बुद्ध्युपाधिको द्रष्टा सुप्तः स्त्स न पश्यति ।
चिदात्माऽपि द्वितीयस्याऽभावादत्र न पश्यति ॥
॥ बृ० वा० ॥ ४-३-३३ ॥

बुद्धयुपाधिक जो वस्तुतः द्रष्टा है वह सुप्त होने से नहीं देखता और चिदात्मा स्वातिरिक्त दृश्य के अभाव से नहीं देखता। "पश्यति" यह सकर्मक है, कर्माभाव से उक्त प्रयोग नहीं होता। चिदात्मा असुप्त है परन्तु तदतिरिक्त दृश्य नहीं है। जब दृश्य नहीं है तब वह किसको देखेगा ? द्रष्टा दर्शन दृश्य—यह सब अविद्या कल्पित है। मोह का (अज्ञान का) ध्वंस होने पर द्रष्टा आदि है ही नहीं ॥

यदिदं भासते किंचिद् द्रष्टृदृश्य भ्रमात्मकम् ।
जगदादि परं रूपं तद्विद्धि परमात्मनः ॥
॥ यो० वा० ॥ ६-१-६-३५ ॥

यह जो कुछ द्रष्टा और दृश्य भासता है सो सब भ्रम ही है। यह जगदादि परमरूप परमात्मा ही है ऐसा जान इसी को हम तुरीय कहते हैं ॥३५॥

॥ कवित्त नं० २७ ॥

ज्ञान जिसमे जाना जावे जानें सोई ज्ञाता
होवे जानी जावे वस्तु सोई ज्ञेय कहलाया है।
प्रमाता प्रमाण प्रमेय ध्याता ध्यान ध्येय तीनों
के समुच्चय में व्यवहार को चलाया है।
कर्ता कर्म क्रिया और करण विषय देव सभी
त्रिपुटीरूप संसार दृष्टि आया है।
ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय आदि त्रिपुटी प्रकाशक
सोई रामाश्रम तुरीयपद तूष्णी ही वताया है॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविध कर्म संग्रहः॥
॥ गीता १८—१८॥

ज्ञानं (ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं साधारणः सर्वपदार्थ विषयको बोधः) जिससे सब पदार्थ जाने जातें हैं वह ज्ञान है।

यानी सम्पूर्ण पदार्थ विषयक साधारण बोध है। जानने योग्य द्रव्य गुण आदि सब पदार्थ ज्ञेय कहे जाते हैं। ज्ञान और ज्ञेय का ज्ञाता साभास ज्ञानात्मा है। जिससे सब प्रेरित होता है, प्रवृत्त होता है वह चोदना सब पदार्थों के त्याग एवं ग्रहण आदि क्रिया की हेतु तीन प्रकार की है। करण-श्रोत्रादि बाह्य करण है और मन बुद्धि आदि अन्तःकरण है। कर्ता की क्रिया करके प्राप्त होने वाला कर्म है और विज्ञानात्मा कर्ता है जिसमें कर्मों का ग्रहण किया जाता है वह कर्म संग्रह है। जो कर्म के प्रेरक होते हैं और जो कर्म के आश्रय होते हैं वे सब कारकरूप ही होते हैं तथा त्रिगुणात्मक ही होते हैं। और यह आत्मदेव कारक मात्रों से तथा तीन गुणों से तथा सर्व कर्मों के स्पर्श से रहित है। यह भगवत वाक्य है। अन्य भी सुनिये:—

अन्तः करण संबन्धात्प्रमातेत्यभिधीयते ।
तथा तद् वृत्ति संबन्धात्प्रमाणमिति कथ्यते ।
अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयं कथ्यते तथा ॥
॥ वेदान्त संज्ञा ॥

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता है तद् वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण है अज्ञात (घट अवच्छिन्न चैतन्य प्रमेय है। एक ही चैतन्य उपाधि भेद से तीन प्रकार से भासमान है)

योगवासिष्ठे उत्तरार्द्धे ६—२७—८

एवं निश्चयवान्नात्मत्वमेवासि निरञ्जनः।
ध्याता ध्येयस्तथा ध्यानं सत्यं चापि न किंचन॥

ध्याता, ध्येय और ध्यान और चकार से ज्ञाता ज्ञान आदि त्रिपुटिरूप संसार कुछ भी सत्य नहीं है ऐसा जिसको निश्चय है वही निरंजन नाम की सत्य वस्तु है।

जागरे तु चितोऽन्यद्यज्जडं त्रेधा विभज्यते।
तदनुव्यवसायस्य त्रितयं कर्मकारकम्॥

॥ वृ० वा० ४—३—३२८॥

जागर आदि में चैतन्य से अतिरिक्त जड़ अज्ञान व्यक्त है जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप से त्रिधा विभक्त होता है। ज्ञाता आदि ही अनुव्यवसाय के कर्म होते हैं—जैसे "घटमहं पश्यामि"। यहां साभास अज्ञान ज्ञाता है। घटादि विषयाकार बुद्धि परिणाम वृत्तिरूप

ज्ञान है और घटादि विषय ज्ञेय है, इसलिये वहां दृष्टित्व की प्रतीति होती है और 'पश्यति' यह प्रयोग होता है।

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् (बृ० ४-३-२३) यद्वै तन्न जिघ्रति० इत्यादि

यह जो नहीं देखता सो देखता हुआ भी नहीं देखता द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है। उस समय उससे भिन्न दूसरी वस्तु है नहीं जिसे देखे। वह जो नहीं सूंघता सो सूंघता हुआ भी नहीं सूंघता। इत्यादि।

यद्वैतन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात॥

बृ० ४-३-३० इत्यन्तः॥

यह जो नहीं जानता सो जानता हुआ ही नहीं

जानता है। विज्ञाता की विज्ञातिका (विज्ञान शक्ति का) सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं होता, जिसे वह विशेष रूप से जाने। ४-३-३० ॥

यहां तक श्रुति के इन ८ मन्त्रों से—पाँच ज्ञानेन्द्रिय व वाक्येन्द्रिय मन और बुद्धि इन ८ आठ करणों से भिन्न आत्मा स्वयं प्रकाश आनन्द स्वरूप है और उस में द्रष्टा, दर्शन और दृश्यादि कोई भी त्रिपुटी नहीं है, क्योंकि वहां "न तु तद्द्वितीयमस्ति" उससे अन्य का अभाव है। यह इस श्रुति से सिद्ध होता है।

स्थूलादिमेयमामातृनिषेधे स्वप्रभं फलम्।
विद्धि सर्वान्तरं ब्रह्म साक्षादित्यादि लक्षणम्॥
॥ २-८-४७ ॥

स्थूलादि पदार्थ तीन श्रेणियों में विभक्त है—कोई माता—यानी प्रमासमवायी जिसको स्थूलादि विषयक प्रमा होती है। कोई प्रमाण है— यानी प्रमिति का कारण है- यथा चक्षुरादि या तज्जन्य ज्ञान। मतभेद से नों प्रकाश कहे जाते हैं। तीसरा प्रकार प्रमेय है-

यानी प्रमा विषय घट आदि। इन तीनों के निषेध से निषेध का अवधिभूत अर्थात् उसका साक्षी जो स्वयं प्रकाश है उसी को 'साक्षाद्' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण लक्षित ब्रह्म जानों, इस प्रकार वाक्य योजना है ॥४७॥

अहङ्कारः प्रमाता स्याद्धीवृत्तिर्मानमुच्यते।
घटादिकं प्रमेयं स्याच्चिद्भासा भातितत्त्रयम् ॥

अहंकार प्रमाता है, विषयाकार बुद्धिवृत्ति प्रमाण है और घटादि प्रमेय है। जिस अपरोक्ष आत्मा के संबन्ध से अहंकारादि अपरोक्ष प्रतीति के विषय होते हैं अर्थात् प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये तीनों चिदात्मप्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं ॥ इति ॥

॥ कवित्त नं० २८ ॥

चित्त का अभाव जहां चिन्तन भी होवे नहीं
देह के अभाव से काल किसका आया है।
बाल युवा हुआ नहीं कहो जरा कैसे होवे
मृत्यु का अभाव कहो जन्म कौन पाया है ॥
कर का अभाव वहां क्रिया कर्म होवे नहीं

पाद के अभाव से निर्गत कहलाया है।
अन्तःकरणाभाव से दुःख सुख होवे नहीं
रामाश्रम तुरीयपद तूष्णी ही बताया है॥

चित्ताभावाच्चिन्तनीयं देहाभावाज्जरा न च।
पादाभावादगतिर्नास्ति हस्ताभावात्क्रिया न च॥
मृत्युर्न जननाभावाद बुद्ध्यभावात्सुखादिकम्।
मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च॥
॥ ते० वि० ५–१६ ते० ५–२०॥

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक्॥
॥ गौ० का० ४–२६॥

चित्त किसी पदार्थ का स्पर्श नहीं करता और इसी प्रकार न किसी अर्थाभास का ही ग्रहण करता है क्योंकि पदार्थ है ही नहीं इसलिए अर्थाभास भी चित्त से पृथक् नहीं है।

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु।

अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥

॥ गौ० का० ४–२७ ॥

[भूत भविष्यत् और वर्तमान] तीनों अवस्थाओं में चित्त कभी किसी विषय को स्पर्श नहीं करता फिर उसे बिना निमित्त के ही विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं होता।

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तं दृश्यं न जायते।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥

॥ गौ० का० ४–२८ ॥

इस लिये चित्त भी उत्पन्न नहीं होता और न चित्त का दृश्य ही उत्पन्न होता है। जो लोग उसका जन्म देखते हैं वे निश्चय ही आकाश में (पक्षी के) चरण चिह्न देखते हैं ॥ २८ ॥

योगवासिष्ठेः—

वासनैव महाराज स्वरूपं विद्धि चेतसः।
चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः ॥

यों० या० ६–६४–५ ॥

जगद् दृश्यमिद वास्यं तदेवोत्पन्नमेव नो।
कारणाभावतः पूर्वमेवातश्चित्तता कुतः॥
यो॰ वा॰ पु॰ ६८-१३॥

हे राजन् ! चित्त का स्वरूप वासना जानो, चित्त शब्द वासना का पर्यायवाची है ॥ ५ ॥

यह जगत दृश्य से आच्छादित है और उसी से उत्पन्न है, वास्तव में नहीं है क्योंकि पूर्व में कारण दृश्य का अभाव है। यथा श्रुतिः—

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं॰"
(छां॰ ६-२-१)

(सोम्य ! पहले यह एक मात्र अद्वितीय सत ही था) दृश्य कारण चैत्य के अभाव से फिर यहां पर चित्त कहां ?

वास्यस्य जगतोऽभावतो नास्त्येव वासना।
अतस्तदात्मकं चित्तं कीदृशं क कुतः कथम्॥
(यो॰ वा॰ ६-६८-१७)

इस दृश्य जगत् का अभाव होने से वासना है ही नहीं (यानी वासना हो ही नहीं सकती) दृश्यरूप चित्त

कैसा है ? कहां है ? किस जगह है और किस प्रकार का है सो कहो ॥ १७ ॥

"देह के अभाव से काल किसका आया है" इस देह के अभाव को साक्षात् श्रुति कहती है:—

नाहं देहो जन्म मृत्यु कुतो मे नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे । नाहं चेतः शोकमोहौ कुतो मे नाहं कर्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे सर्वसारोप० ॥ ६ ॥

मैं आत्मस्वरूप देह नहीं हूं तो मेरे जन्म-मरण है ही नहीं मैं प्राण भी नहीं हूं तो मुझे भूख प्यास नहीं है और मैं चित्त नहीं तो मुझे शोक मोहादि कहां ? और मैं कर्ता नहीं तो मेरे बन्धमोक्ष कहां ? ॥ ६ ॥ (भगवान् श्री शङ्कराचार्य जी अपरोक्षानुभूति में लिखते हैं:—

निर्मलो निश्चलोऽनन्तः शुद्धोऽहमजरोऽमरः ॥
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः

मैं असत् देह रूप ही हूं मैं तो निर्मल हूं निश्चल

हूं अनन्त हूं शुद्ध हूँ और जरा-मरण से रहित हूं इसी को बुध (पण्डित) जन ज्ञान कहते हैं।

यस्मात्परमितिश्रुत्या तया पुरुषलक्षणम् ।
विनिर्णीतं विमूढेन कथं स्याद्देहकःपुमान्

श्रुति– यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् ०

श्वे० उ० ३-९

(जिस आत्मा से उत्कृष्ट और कोई नहीं है तथा जिससे छोटा और बड़ा भी कोई नहीं है) इत्यादि श्रुति से पुरुष का लक्षण कहा है और जो विद्वानों द्वारा निर्णय किया गया है भला फिर आत्मा कैसे देहमान् हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं।

असंगः पुरुषः प्रोक्तो वृहदारण्यकेऽपि च ॥
अनन्तमलसंश्लिष्टः कथं स्यादिह कः पुमान् ॥

श्रुतिः–असंगोह्ययं पुरुषः (वृ० ४-३-१५)

यह पुरुष असङ्ग है) इत्यादि और भी श्रुति कहति है

(अशरीरं वाव० छां० ८-१२-१)

(अशरीरं शरीरेषु० क० १-२-२१)

(शरीर रहित आत्मा का स्पर्श नहीं) (स्थूल देह रहित अनेक अनित्य शरीरों में स्थित महान् और विभु) इत्यादि अनंत मलों से लिपी हुई जो यह देह है, फिर भला आत्मा कैसे देहवान् हो सकता है ? इत्यादि श्रुतियों से देह का अभाव है। और देह के अभाव से काल का अभाव है, और काल के अभाव से जन्म का अभाव है और जन्म के अभाव से बाल, युवा और जरा इन तीनों अवस्थाओं का अभाव है और कर व पद के अभाव से ग्रहण व गति का जो अभाव है सो स्थूल देह के अभाव से अभाव कहा है। आत्मा को लेकर नहीं कहा है। क्योंकि ऐसी श्रुति है। यथा—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः संशृणोत्यकर्णः ॥
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
(श्वे० ३-१६)

वह हाथ, पांव से रहित होकर भी वेगवान् और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्णरहित होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वेद्य-वर्ग को जानता है, किन्तु उसे जानने वाला कोई नहीं है। वह [ऋषियों ने] सबका आदि पूर्ण एवं महान कहा है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न मे प्रियः

॥ गी० ६-२१ ॥

सम्पूर्ण भूतों में मैं समत्वभाव से रहता हूं न कोई मेरा प्रिय है और न कोई अप्रिय है (शंकरानन्द)

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः इति श्रवणादमन स्कस्यप्रियाप्रियत्वभावनायोगात्० ।

परमात्मा प्राण रहित मन रहित और शुभ्र है। इस अर्थ की प्रतिपादक श्रुति से अन्तःकरण से रहित परमात्मा को प्रिय या अप्रिय भावना हो नहीं सकती इति

॥ कवित्त नं० २६ ॥

चित्तवृत्ति हीन चित्तवृत्ति में ही भास

रहा, सर्ववृत्ति हीन सोई तुरीय कहलाया है।
बन्ध वही मोक्ष वही बन्ध मोक्षहीन वही
मुक्तामुक्त वही नहीं मुक्तामुक्त पाया है।
द्वैत और अद्वैत वही द्वैताद्वैत हीन वही
सर्वरूप हीन सर्वरूप दृष्टि आया है। सर्व-
वृत्ति हीन वैदेही जीवन मुक्त सोई रामाश्रम
तुरीयातीत तूष्णी ही बताया है ॥

श्रुतिः—चित्तवृत्तेरतीतो यश्चित्तवृत्यवभासकः
सर्ववृत्तिविहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः
॥ ते० वि० उ० ॥ ४-५३ ॥

चित्त वृत्ति से परे है और चित्त वृत्ति का प्रकाशक भी है और जो सर्व वृत्तियों से हीन है वही विदेह मुक्त है वही आत्मा है और उसी को तुरीय कहते हैं।

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ॥
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
गी०। १३-१४।

श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रिय और वागादि पांच कर्मेन्द्रिय यह बाह्येन्द्रिय हैं और मन बुद्धि अन्तः हैं। मनबुद्धि ज्ञेयोपाधिक तुल्य होने से समस्तेन्द्रिय के ग्रहण से ग्रहण है। और भी अन्तःकरणोपाधि के द्वारा श्रोत्रादिकों का उपाधित्व है। इस लिए अन्तःकरणोपाधिस्वरूप इन्द्रियगुणों के द्वारा और वहिःकरणोपाधि स्वरूप इन्द्रियगुणों के द्वारा निश्चय संकल्प श्रवणवचनादि से प्रकाश करता हैं इस लिए कहा है कि 'सर्वेन्द्रियगुणा भासम् ।' सब इन्द्रियों के व्यापार से व्यापार के समान होने से वह ज्ञेय है यह अर्थ है। यथा—(ध्यायतीव, लेलायतीव) वृ० ४-३-७ ॥ इति श्रुतेः॥ क्योंकि फिर कारण से व्यापार नहीं ग्रहण है इस लिए कहते हैं कि—सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । अर्थात् सर्वकरणों से रहित है। यथाश्रुतिः—अपाणिपादो० श्वे० ३-१९) इत्यादि से असक्तं (संयोग आदि सम्बन्ध से वर्जित असङ्ग है। सर्वभृच्च एव) सब को सत्ता स्फूर्ति देने वाला है।

सत्वादि गुणों से रहित और गुणों का भोक्ता भी

आत्मा ही है इस लिए अन्य का अभाव है।

वन्ध मोक्ष स्वरूपात्मा वन्धमोक्षविवर्जितः।
मुक्तामुक्तस्वरूपात्मा मुक्तामुक्त विवर्जित :
॥ तेज विन्दु० ॥ ४—६ ॥

सामान्य ज्ञानवान् लौकिक वन्ध पुरुष है यानी बंध रूपी आत्मा है और सम्यक् ज्ञान यानी जीवन मुक्त मोक्ष रूप है यानी मोक्ष आत्मा है। और ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानी यानी विदेह मुक्त वन्ध मोक्ष रहित शुद्ध आत्मा है। इस प्रकार सवरूप होने से मुक्त भी आत्मा है अमुक्त भी आत्मा है और मुक्तामुक्त से रहित शुद्ध भी आत्मा है।

द्वैताद्वैतस्वरूपात्मा द्वैताद्वैत विवर्जितः।
स्वतः पूर्णात्मकं ज्योतियद्द्रष्टेति चोच्यते॥
अविद्या कार्यराहित्याद्द्वैतोऽयं भवेत्स्वतः।
॥ तेज विन्दु० । बृ० वा० । ४-३-३५८ ॥

स्वतः पूर्णात्मक ज्योति जो अद्रष्टा इत्यादि से कही जाती है वह अविद्याकार्य रहित होने से स्वतःअद्वैत

है। अतः प्रत्यगात्मा सजातीय विजातीय और स्वगत भेद से रहित है अतएव अद्वैत है। यद्यपि प्रयत्गात्मा स्वतः अद्वैत है, तथापि परतःद्वैत प्रतीत होता है। परतः प्रतीयमानरूप कल्पित होता है। अविवेकी इसी से भ्रांत होकर उसके वास्तविक स्वरूप के निर्णय में असमर्थ होते हैं, अतः संसारानर्थरूप फल के भागी होते हैं। श्रुति दया पूर्वक जागरादि अवस्था के निर्देश द्वारा अद्वैत आत्मस्वरूपस्फुट निर्देश करती है। फिर भी एक अद्वितीय आत्मा को नहीं देखते यह दूषित हृदयों का दुर्भाग्य है ॥ ३५८ ॥

प्रत्यक्षगोचरं देवं लोकं चाऽतिप्रमादिनम् ।
दृष्ट्वा श्रुतिः शिरस्ताडमनुक्रोशति दुःखिता॥
॥ वृ० वा० ॥ ४—३—१८१ ॥

शंका) आत्मा दृष्टि योग नहीं है, अतः वह अदृष्ट है इसमें दुर्भाग्य की क्या बात ?

समाधान— आत्मा होने से वह प्रत्यक्ष गोचर है, क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्ष ब्रह्म' यह श्रुति है। तथा आत्मप्रत्यक्ष के बिना किसी को प्रत्यक्ष ही नहीं

होता। स्वप्न और सुषुप्ति में स्पष्ट ही प्रत्यक्ष है। तथापि प्रमादी लोक को देख कर अति दुःखित श्रुति सिर पीट पीट कर रोती है और कहती है— यह कुबुद्धियों का दुर्भाग्य है कि निःसीमानन्दसमुद्र को न देख मायामृग सलिल को ही देखते हैं

श्रुतिः— सर्वासर्वस्वरूपात्मा सर्वासर्वं विवर्जित :

सर्वभाव को प्राप्त हुआ भी आत्मा ही है और अल्पज्ञ भी आत्मा ही है और इन दोनों से रहित शुद्ध है (ते० वि ४-६७)

सर्वान्तरत्वसर्वात्म्यमन्यस्मिन् सति तत्कुतः ।
न चेदन्यत्तदा सर्वशब्दार्थो नेति शंकिते ॥
(वृ० वा० ३-४-८६)

(शङ्का) यदि आत्मव्यतिरिक्त पदार्थ है तो सब को आत्मा कैसे कहते हो ? जो उससे भिन्न है सो तो आत्मा नहीं है। यदि उससे अतिरिक्त पदार्थ नहीं है सर्व शब्द का क्या अर्थ है ॥ ८६ ॥

अतोऽन्यदार्तमित्याह दोषद्वयनिवृत्तये ।
आरोपितप्रपंचस्य तत्त्वज्ञानेन पीडनात् ॥

उक्त प्रश्न का उत्तर स्वयं श्रुति ने (अन्यदार्तम्) इत्यादि से दिया है, जो आत्म व्यतिरिक्त पदार्थजात कार्यकारण रूप से संसार में प्रसिद्ध है वही सर्व शब्द का अर्थ है किन्तु वह आर्त यानी विनाशी है, अतएव आत्मा में अज्ञान से आरोपित है (ते० वि० ३-४-६०)

श्रुतिः— सर्वसंल्पहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः

सब संकल्पों से हीन है वही आत्मा और वही विदेह मुक्त है ।

सदेहे न विदेहत्वं विदेहे न सदेहता।
सदेहत्वं विदेहत्वं जीवनमुक्ते प्रवर्तते ॥

मुक्त पुरुष सदेह रहता है, विदेह नहीं, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं यथा सूत्रम्—

ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः (ब्र.सू. ४-४-५)

मुक्त जीव सर्वज्ञत्वं आदि सत्य धर्मों से मुक्त ही रहता है क्योंकि उपन्यास विधि और व्यपदेश आदि हेतु है । (सोऽन्वेष्टव्य) इसके विधान के लिए आया हुआ (य आत्माऽपहतपाप्मा) इत्यादि उपदेश है उपन्यास है (तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति) इत्यादि विधि है और (यः सर्वज्ञः) इत्यादि

व्यपदेश है इन हेतुओं से जैमिनि आचार्य मानते हैं कि मुक्त पुरुष सर्वज्ञत्व आदि धर्मों से युक्त होता है। निर्गुणत्व रूप जो विदेहत्व है वह सगुणत्व रूप सदेह नहीं है यह औडुलोमि मानते हैं। यथा सूत्र—

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः (ब्र.सू.४-४-६) तदात्मकत्वात्–जीवात्मनां चैतन्यात्मकत्वात चितितन्मात्रेण चैतन्यात्मना [अवस्थिते मुक्तेब्रह्मणि सर्वज्ञत्वादि शब्दा व्यर्था एवप्रयुज्यंते]इति औडुलोमिः– आचार्य औडुलोमिः मन्यते।

जीवों के चैतन्य स्वरूप होने से चैतन्य स्वरूप से अवस्थित मुक्त ब्रह्म में सर्वज्ञत्व आदि शब्द व्यर्थ ही प्रयुक्त होते हैं, इस प्रकार आचार्य औडुलोमि मानते हैं ॥६॥ सदेह, सगुणत्व, विदेह निर्गुणत्व, जीवन्मुक्त में दोनों वर्तते हैं ऐसा बादरायण मानते हैं यथा सूत्र—

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः (ब्र.सू.४-४-७) एवमपि पारमार्थिक चैतन्यमात्र-स्वरूपाभ्यु पगमेऽपि उपन्यासात्–पूर्वोक्तोपन्यासा

दिभ्यः पूर्णभावात् -पूर्णस्य ब्रह्मस्वरूपस्य सर्वज्ञत्वादेर्व्यावहारिकस्य भावात् [ब्रह्मणो मुक्तात्मनः सप्रपञ्चत्वनिष्प्रपंचत्वयो] अविरोधार विरोधाभावम् वादरायणाचार्यः [मन्यते]।

पारमार्थिक चैतन्य मात्र स्वरूप का स्वीकार होने पर भी पूर्वोक्त उपन्यास आदि हेतुओं से प्रथम (अज्ञान काल में) ब्रह्म स्वरूप के सर्वज्ञत्व आदि व्यावहारिक होने से मुक्त आत्मा के सप्रपंचत्व सदेहत्व और निष्प्रपंचत्व विदेहत्व का विरोध नहीं है। ऐसा वादरायण आचार्य मानते हैं। और बाकी ब्रह्म सूत्र देखें ॥७॥ भाव यह है कि प्रमाता के भेद से दोनों की सविशेषत्व और निर्विशेषत्व की उपपत्ति हो सकती है। मुक्त पुरुष की अपेक्षा निर्विशेषत्व और बद्ध पुरुष की अपेक्षा सविशेषत्व अर्थात् सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त प्रतीत होता है। मुक्त पुरुष किसी भी अवस्था में सर्वज्ञत्वादि गुणों से हम युक्त हैं इस प्रकार ज्ञान नहीं करते क्योंकि उस ज्ञान की कारण अविद्या नहीं है बद्ध पुरुष तो अविद्या से युक्त है।

इस लिए उनको निर्विशेष ब्रह्म सगुणत्वादि से युक्त प्रतीत होता है इससे प्रमाता के भेद से उन धर्मों की व्यवस्था हो सकती है।

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥
(ब्र० सू० ४-४-१६)

क्योंकि सुषुप्ति और मुक्ति में से एक की अपेक्षा से विशेष ज्ञान के अभाव का श्रवण— (तत्ऽन्यत्) इत्यादि सुषुप्ति प्रकरण की अपेक्षा से और (तत् केनकं) इत्यादि मुक्ति के प्रकरण की अपेक्षा से स्वीकृत है इस लिए सगुण वेत्ता के शरीर के अंगीकार में कोई बाधक नहीं है। सगुण विद्या का परिणाम स्थान स्वर्गादि के समान अन्य अवस्था है अतः दोष नहीं है ॥१६॥

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः।
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्संचितागामिनाम्
ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिताः।
तेषां तत्त्रितयं न हि क्वचिदपि ब्रह्मैव तन्निर्गुणम् ॥
(वि० चू० ४५४)

ज्ञान तीन प्रकार का है, सामान्य ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, ब्रह्मात्मैक ज्ञान, कर्म भी तीन प्रकार का है संचित, प्रारब्ध, आगामी इन सब में अज्ञान दशा में तीनों कर्मों का फल भोगना पड़ता है और सम्यक् ज्ञान रूप अग्नि के प्रज्वलित होने से पूर्व संचित तथा आगामी कर्म का भी लय हो जाता है बलवान जो प्रारब्ध है उसका नाश भोगने से ही होता है। जो मनुष्य ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान होने से ब्रह्ममय होकर सदा स्थिर रहते हैं उन ब्रह्मज्ञानियों के तीनों प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं क्योंकि वह केवल निर्गुण ब्रह्म ही हैं ॥४५४॥

क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे

(मु० उ० २-२-८)

इत्यादि श्रुति है। यही तुरीयातीत-विदेह अवस्था है।

॥ कवित्त नं० ३० ॥ (तुरीयातीत)

विदेह मुक्ति मरणें वाद होवे यूँ भ्रान्त कहें
श्रुति से विरोध नहीं मेरे मन भाया है॥ 'ब्रह्म'

विद्ब्रह्मै व भवति ब्रह्म का मरण कहां शरीर की विस्मृति सोई विदेह कहाया है॥ 'अशरीर वाव सँतं" "अशरीरं शरीरेषु" "अत्र ब्रह्म समश्नुते' श्रुतियों में पाया है॥ तद्यथाऽहिनिर्ल्वयति वल्मीके मृता प्रत्यः रामाश्रम तुरीयातीत तूष्णीं ही बताया है॥

प्रमाण—

न तस्य जीवतः कश्चिद्विशेषोऽस्ति मृतस्य वा
यतः सर्वविशेषाणामविद्यै वा ऽ कारणम्॥

(बृ० वा० ४-४-१६५)

आत्मा में जीवनावस्था तथा मृत्यावस्था में कोई विशेष नहीं है जिससे कि यह कह सके कि मृतावस्था ही मुक्ति ठीक है- कारण की सब विशेषों को कारण अविद्या ही है। अविद्या के निवृत्त होने पर उक्त विशेषों की निवृत्ति हो ही जाती है। फिर जीवन दशा में मुक्ति नहीं होती, ऐसा मानने में कोई कारण नहीं है। अतः मृत जीव ही मुक्त होता है ऐसा कहने वाले भ्रांत हैं।

तदा विद्वान् ब्रह्म भूत्वा ब्रह्म त्वादमृतोऽभवम् ॥
मरणं ब्रह्मणः क्वाऽपि नैव संभावितं श्रतौ
(बृ० वा० ४-४-१६७)

मन्त्र द्रष्टा का वचन है कि उस समय विद्वान ब्रह्म होकर (अमृतोभवम्) मैं अमृत हो गया' ऐसा अनुभव करता है; कारण ब्रह्म का मरण श्रुति में कहीं नहीं है।

भविष्यत्कालसम्बन्धि फलंस्यान्नहि नाकवत्।
धीजन्मन्येतत्सिद्धे र्दग्निजन्मनि दाहवत् ॥
(बृ० वा० १-४-७६२)

स्वर्ग की तरह ज्ञान का फल आगामी काल में सम्बन्ध रखने वाला नहीं है; ज्ञान का जन्म होते ही मुक्ति की सिद्धि हो जाती है; जैसे अग्निका जन्म होते ही दाह की सिद्धि होती है ॥ ७६७ ॥

(शङ्काः—

ज्ञान होते ही मुक्ति तो हम भीं मानते है वही जीवन मुक्ति होतीं है, परन्तु विदेह मुक्ति तो देह पतन के बाद हीं होतीं है ?

श्रुतिः— तदेषश्लोकोभवति ।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येस्य हृदि श्रिता ॥
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
बृ० उ० ४-४-६

जब हृदय में स्थित कामनाएं समूल नष्ट हो जाती हैं तब मर्त्य अमृत हो जाता है और ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है । 'अमृतो भवति' अत्र ब्रह्म समश्नुते । इन दोनों वाक्योंमें पुनरुक्त दोष का परिहार करते हैं—

अस्मिन्नेव वपुष्येष बोधाद् ब्रह्मत्वमश्नुते ।
ब्रह्मणो मरणाभावादमृतत्वं व्यवस्थितम् ॥

मरणान्तर अमृत होता है शरीरावस्था में नहीं, इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहते हैं—'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इसी शरीरावस्था में मुक्त होता है ॥
॥ बृ० वा० सार ॥ ४-४-१८५ ॥

श्रुतिः— अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः

प्रिय और अप्रिय वस्तुतः शरीर रहित आत्मा का स्पर्श नहीं करते) इस श्रुति से प्रिय और अप्रिय के

प्रतिषेध से मोक्षसंज्ञक शरीर रहित स्थिति वास्तविक वस्तु है ॥ (छां ८-१२-१)

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तँ विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

स्थूल देह रहित अनित्य शरीरों में स्थित (जैसे सर्प जलधारा भूछिद्रादि में रज्जु) महान् और विभु आत्मा को जान कर विद्वान् शोक नहीं करता ॥

। कठोप० ॥ १-२-२२ ॥

तत्तु समन्वयात् ॥ १-१-४ ॥

इस सूत्र के भाष्य में भगवान् भाष्यकार जी लिखते हैं—

शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवित इति चेत् न, सशरीरत्वस्यमिथ्याज्ञान निमित्तत्वात् । नह्यात्मनः शरीरात्माभिमान लक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीरत्व शक्यं कल्पायितुमनित्यमशरीरत्वमकर्मनि· मित्तत्ववात् । तस्मात् मिथ्या प्रत्ययनिमि·

त्त्वात् सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः- तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेद शरीरं शेते, अथायमशरीरो-ऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृ. ४-४-७) इति । सचक्षुरचक्षुरिवसकर्णोऽकर्ण इव स-वागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च । तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि । न ह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्य-प्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति ।

शरीरपात होने पर सशरीर रहित स्थिति होती है जीते जी नहीं हो सकती ऐसी शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि शरीर स्थिति मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होती है शरीर ही आत्मा है, इस अभिमानरूप मिथ्याज्ञान को छोड़कर अन्य किसी कारण सेआत्मा में सशरीरत्व की कल्पना

नहीं की जा सकती कर्म से उत्पन्न न होने के कारण शरीर रहित स्थिति नित्य है इससे यह सिद्ध हुआ कि सशरीरत्व मिथ्या ज्ञान से होता है। अतः ज्ञानी को (जिसका मिथ्याज्ञान नष्ट हो गया है) जीते जी भी सशरीरत्व स्थिति प्राप्त होती है। ब्रह्मज्ञानी के सम्बन्ध में—'तद्यथा० (जिस प्रकार जिसमें सर्प ने अभिमान त्याग दिया है ऐसी सर्प की त्वचा वल्मीक आदि में फेंकी हुई पड़ी रहती है उसी प्रकार विद्वान् ने जिसमें अभिमान त्याग दिया है उसका शरीर पड़ा रहता है और शरीर में रहने वाला आत्मा अशरीर है; मरण-रहित है प्राण है ब्रह्म है स्वयं प्रकाश आनन्द ही है। और "सचक्षुरचक्षु" (वस्तुतः वह नेत्र रहित होता हुआ भी नेत्र सहित के समान कर्ण रहित भी सकर्ण-वाक् हीन भी वाणी से सम्पन्न सा मनरहित भी मनसहितसा प्राण रहित भी सप्राणसा है) ऐसी श्रुति है। इससे 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा ज्ञान होने तक ही सब प्रमाण है क्योंकि हेय और उपादेय रहित अद्वैत आत्म तत्त्व का ज्ञान होने पर उस अवस्था में जिनका न कोई विषय है और न प्रमाण ही नहीं हो सकते ॥

श्रुतिः—

तस्मिन्काले विदेहीति देहस्मरणवर्जितः ।
तुरीयातीतरूपात्मा शुभाशुभविवर्जितः ॥

तुरीयातीत (यानी सँख्या रहित) और शुभ-अशुभ से वर्जित (यानी सुख दुःख से रहित) आत्मा का रूप है, जिस काल में इस अमात्मक स्थूल देह का विस्मरण कर देता है उसी काल में विदेह देह रहित स्थिति होती है यानी विदेह मुक्त होता है। ॥ ते० वि० ॥४-५४॥

यस्य प्रपञ्चभानं न ब्रह्माकारमपीह न ।
इति निश्चयशून्यो यो वैदेही मुक्त एव सः ॥

जिसको जगत् का भान नहीं है और 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अन्तःकरण रूप वृत्ति भी जिसकी गलित हो गई है इस प्रकार के निश्चय से जो शून्य है वही देह रहित स्थिति मुक्ति है ॥ तेज विन्दु० ॥ ४-५४ ॥

अन्यश्रुतिः-विदेहमुक्तौ विमले पदे परम पावने ।
चित्तनाशे विरूपाख्ये न किञ्चिदिह विद्यते ॥

यहां कुछ भी नहीं देखता जैसे अन्य श्रुति भी कहती है (यत्र नान्यत्पश्यति) (न तु तद्द्वितीयमस्ति) इस प्रकार से चित्त का नाश ही जिसका स्वरूप है ऐसी विदेह मुक्ति सब मलों से रहित पद है पवित्र है यानी परम स्वच्छ है; निर्मल है ॥ २० ॥

॥ अन्न पू० उ० ॥ ४-२० ॥

ये हि पारंगता बुद्धेः संसाराडम्बरस्य च ।
तेषां तदास्पदं स्फारं पवनानामिवाम्बरम् ॥

जैसे पवन का आकाश आधार है वह पवन आकाश में लीन हो जाती है उसी प्रकार जिसकी बुद्धि संसारसे पार हो गई है यानी जिसकी बुद्धि में जगत् लीन हो गया है वह उसी समय मुक्ति को प्राप्त होता है यही विदेह मुक्ति है यही तुरीयातीत अवस्था मन वाणी से अगोचर है। इस विदेह मुक्त महात्मा में तुच्छा विद्या है और जीवन्मुक्त महात्मा में लेशविद्या है जिससे यह तो प्रारब्ध भोग के बाद विदेह मुक्त होता है, विदेह मुक्त प्रारब्ध का निराकरण करता है यही भेद है। सो आगे दिखाते हैं:— ॥ अन्नपूर्णोपप० ॥ ४-२२ ॥

॥ कवित्त नं० ३१ ॥

प्रकृति, प्रधान, माया, प्रारब्ध, अज्ञानमोह शिवशक्ति के अनेक नाम शास्त्रों में पाया है। माया से मन के बीच बन्ध मोक्ष भास रहे भोक्ता भोग्य प्रेरक सर्व तुरीय दरशाया है॥ मुक्त जीवनमुक्त विदेह मुक्त का विभाग नहीं अज्ञान से हृदय में अनेक भेद पाया है। एक रस अद्वितीय अखण्ड में भेद कहां रामाश्रम तुरीयातीत तूष्णी ही वताया है॥

ननु विमुक्तश्च विमुच्यते (कठ २-२-१)

तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्षोऽथ।

शङ्का—('विमुक्तश्च' जीवन मुक्त होकर 'विमुच्यते' मरने के वाद विदेह मुक्त होता है) उस ब्रह्मवेत्ता को इतनी ही विलम्ब है, जब तक प्रारब्ध भोग कर देहपात नहीं होता इत्यादि श्रुति जो देहपात के वाद

मुक्ति कहती है उनकी क्या गति होगी ? (समाधान—

(छां० ६-१४-२)

श्रुतिः— ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवा-
वेदहँ ब्रह्मास्मीति।

पहले यह ब्रह्म ही था उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। पहले ब्रह्म कब था ?

पुरमेकादशद्वार * मजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचन्ति विमुक्तश्च विमुच्यते॥

सरल विशुद्ध ज्ञानस्वरूप अजन्मा आत्मा का ग्यारह द्वारों वाला मनुष्य शरीररूप पुर (नगर) है उसमें रहता हुआ (यानी अज्ञान काल में आपको शरीर मानता हुआ भी मुक्त ही है) और ज्ञान काल में शरीर को भ्रमरूप जान कर मुक्त हुआ ही मुक्त होता है।

नव द्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।

नव द्वार वाले पुर में देही (आत्मा) न कुछ करता है और न करवाता है यह स्मृति भी आत्मा को

* नाभि और कपाल ग्रहण से ११ होते हैं।

सदा मुक्त ही कहती हैं। और (तस्य तावदेव चिरं-यावन्नविमोक्ष्य) श्री भाष्यकार जी अथ शब्द से अविद्या काल से विद्या तक का ही विलम्ब कहते हैं (यानी जब तक अज्ञान दशा से ज्ञान प्राप्त नहीं होता इतना ही विलम्ब है) और प्रारब्ध तो अविद्या ही है—

शिव महापुराण

मोहिनीसर्वलोकाना शिवमाया गरीयसी।
तदधीनं जगत्सर्वं शिवेच्छा सा प्रकीर्त्यते।
प्रारब्धं प्रोच्यतेसैव तन्नामानि ह्यनेकशः॥
॥ शि० पु० ॥ ३-२-१७॥ ३-२-१६ ॥

सब लोगों को मोहित करने वाली शिव की माया गम्भीर है और उसी के आधीन यह सब जगत् है सो शिव इच्छा प्रकृति है उसी को प्रारब्ध कहते हैं सो उस के अनेक नाम हैं । जब प्रारब्ध माया है तो माया को भोग कर कैसे मुक्त हो सकते हो उसको तो मिथ्या जानना ही मुक्ति है ॥ (अध्यात्मोप० और विवेक चूड़ामणी) यथा—

अजरोऽस्म्यमरोऽस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ॥

मैं अजर अमर हूं ऐसा जो आत्मभाव को प्राप्त है वह आत्मा में स्थित है उनको प्रारब्ध कहाँ।

॥ अध्या० ५६ ॥ वि० चू० ४-६० ॥

प्रारब्धँ सिद्ध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ॥

प्रारब्ध की सिद्धि तब तक ही है जब तक देह में आत्म बुद्धि स्थित है। ऐसी आत्मबुद्धि इस देह में इष्ट नहीं इस लिए प्रारब्धका त्याग करो ॥ अध्यात्मोपनिषद् ५६ ॥ वि० चू० ४६१ ॥

प्रारब्धकल्पनाप्यस्य देहस्य भ्रांतिरेव हि।
अध्यस्तस्य कुतस्तत्त्वमसत्यस्य कुतोजनिः ॥

यह शरीर प्रारब्ध से निर्मित है ऐसी कल्पना करना भी भ्रान्ति मात्र है क्योंकि जो अध्यस्त है अर्थात भ्रम से उत्पन्न है वह सत्य कैसे होगा, जो असत्य है उसका जन्म भी नहीं है ॥ अध्यात्मो० ५७ ॥ ॥ वि० चू० ४६२ ॥

अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः ।
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि ॥

अज्ञान से उत्पन्न जितने स्थूल देह आदि कार्य हैं उनका यदि ज्ञान से समूल लय किया जाय तो जो अजात है उसका नाश कहां से होगा और जो हुई नहीं है उसका प्रारब्ध भी नहीं है ॥ अध्यात्मो॰ ५८ ॥
॥ वि॰ चू॰ ४६३ ॥

तिष्ठत्ययं कथं देह इति शंकावतो जडान् ।
समाधातुं वाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ।
नतु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम् ॥
॥ अध्यात्मो॰ ॥ ५६ ॥ वि॰ चू॰ ४६४ ॥

यदि इस देह के कारण अज्ञान का कार्य सहित लय हो गया तो यह देह वर्तमान क्यों है ऐसी शंका करने वाले जो जड़ मनुष्य हैं उनको समझाने के लिये वाह्य दृष्टि से श्रुति प्रारब्ध को कहती है । कुछ विद्वानों को देह आदि सत्यत्व के लिए नहीं । अन्य श्रुति भी है—नादविन्दूपनिषत् तथा अपरोक्षानुभूति—

तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ।
देहादीनामसत्त्वात्तु यथा स्वप्ने विबोधतः ॥

जब तत्त्व ज्ञान का उदय होता है तब ज्ञानी की दृष्टि में प्रारब्ध का उसी प्रकार अभाव हो जाता है जिस प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्न देह का अभाव हो जाता है ॥ ना० वि० ॥ २२ ॥ अपरोक्षान ॥

कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम् ।
तत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसोनैवास्ति कर्हिचित् ॥

जन्मान्तर के किये हुए कर्म हैं वे ही प्रारब्ध कहे गए हैं परन्तु ज्ञानी के लिए तो जन्मान्तर भी नहीं है अतः उसके लिये कभी भी प्रारब्ध नहीं रहता।
॥ अपरो० ना० वि० २३ ॥

स्वप्नदेहो यथाध्यस्तस्तथैवायं हि देहकः ।
अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः

जिस प्रकार स्वप्नदेह देह नहीं होती अध्यासमात्र होती है उसी प्रकार यह जाग्रतकाल का शरीर भी अध्यासमात्र है। अध्यस्त पदार्थ की उत्पत्ति कहां होती है और जिसकी उत्पत्ति नहीं हुई उसकी स्थिति कहां!
॥ ना० वि० २४ ॥ अपरो० ॥

रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूप न तिष्ठति ।
अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपंचः शून्यतां गते ॥
॥ ना० बिन्दुप० २७ ॥ अपरोक्षानुभूति)
देहस्यापि प्रपंचत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः ।
अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते ॥

रस्सी के टुकड़े को अच्छी तरह पहचान लेने पर जैसे उसमें प्रतीत होने वाला सर्प रूप नहीं रह जाता उसी प्रकार अधिष्ठानस्वरूप आत्मा का ज्ञान होने पर प्रपँच भी शून्यता को प्राप्त हो जाता है, देह भी प्रपंच रूप ही है उसके साथ ही शून्यता में परिणत हो जाता है उस अवस्था में प्रारब्ध की स्थिति कैसे रह सकती है। अज्ञानीजनों को समझाने के लिए प्रारब्ध की बात कही जाती है। जिन अज्ञानियों को इन श्रुतियों का विश्वास नहीं है वे ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध से सुख दुःख भोगते हैं। "तरति शोकं आत्म-वित्" आत्मज्ञ शोक को पार करता है यह वे नहीं जानते ॥ ना० बिन्दु० २८ ॥

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य माया मूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥

यह बन्ध और मोक्ष गुणों के हैं वस्तुतः आत्मा के नहीं गुणों की मूल माया है गुण माया से उत्पन्न होते हैं और लीन होते हैं, माया से परे जो मैं आत्मस्वरूप हूं मेरे बन्ध मोक्ष कहां ? ॥ भागवते । स्कं० ११ ॥

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत ॥

भोक्ता (जीव) भाग्य (जगत्) और प्रेरक (ईश्वर) यह तीन प्रकार से कहा हुआ पूर्ण ब्रह्म ही है।

॥ श्वे० १-१२ ॥

त्यक्त्वा सर्वविकल्पांश्च स्वात्मस्थं निश्चलं मनः
कृत्वा शांतो भवेद्योगी दग्धेन्धन इवानलः॥

योगी सम्पूर्ण विकल्पों को त्याग कर मन को अपने आत्मा में निश्चल रूप से स्थित कर जिसका ईंधन जल चुका है उस अग्नि के समान शांत हो जाता है।

॥ कापेय गीता ॥

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः॥

एक वस्तु जो परब्रह्म है उसमें जो विश्व का विकल्प हो रहा है सो सब मिथ्याज्ञान कल्पित है क्योंकि निर्विकार निराकार विशेष से शून्य परब्रह्म में भेद कहां नहीं है ॥ वि० चू० ॥ ४ ॥

॥ कवित्त नं० ३२ ॥

अभय में भय ऐसा अस्पर्श नाम योग
दूरदर्शी योगियों को कठिनाई से पाया है।
वहिकरण त्याग अन्तःकरण का व्यवहार
नहीं सदाभासमान अचल निर्भय दरशाया
है। जप-तप-चिन्तन अध्ययन किंचित्भी कर्म
नहीं ग्रहण न त्याग नहीं समता में समाया
है। अज है निद्रा स्वप्न नहीं नामरूप नहीं
सोई रामाश्रम तुरीयातीत तूष्णी० श्रुतिः—

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयतेऽभयप्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति ॥ तै० २-७ ॥

जब यह साधक अदृश्य अशरीर अनिर्वचनीय माया शून्य इस ब्रह्म में भय रहित प्रतिष्ठा—आत्मभाव प्राप्त करता है, तब वह अभय प्राप्त करता है और जब उस (ब्रह्म) में किञ्चित भी भेद दृष्टि करता है तब उसको (जन्म मृत्यु का) भय होता है ॥ तै० २-७ ॥

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

सर्व—सम्बन्ध रूप स्पर्श से रहित होने के कारण यह उपनिषदों में अस्पर्श योग नाम से प्रसिद्ध है। यह वेदान्त विज्ञान से रहित सभी योगियों को कठिनता से दिखाई देता है, इस लिए उनके लिए दुर्दर्श है। इस अभय योग में भय देखने वाले, भय का निमित्त भूत आत्मनाश देखने वाले अर्थात् अविवेकी योगी लोग इससे भय मानते हैं। माँ० का० ॥ ३-३९ ॥

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिंतासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥

वह सब प्रकार के वाग्व्यापार (अर्थात् सब प्रकार की वाह्य इन्द्रियों) से रहित है, सब तरह के चिन्तन (अन्तःकरण के व्यापार) से रहित है अर्थात् अन्तःकरण से रहित हैं—'अप्राणोह्यमनाःशुभ्रो' (मु० ३२-१२) प्राणरहित मनरहित और शुद्ध है इत्यादि श्रुति है—अत्यन्त शांत नित्यप्रकाश समाधिस्वरूप अचल और निर्भय है ॥ ३७ ॥

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजातिसमतां गतम् ॥

जिस (ब्रह्मपद) में किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है उसमें किसी तरह का ग्रहण और त्याग भी नहीं है । उस अवस्था में आत्मनिष्ठ ज्ञान जन्मरहित और समता को प्राप्त हुआ रहता है ! भाव यह है कि इस तत्त्वको प्राप्त कर लेने पर तो हर कोई कृतकृत्य ब्राह्मण (ब्रह्मनिष्ठ) हो जाता है ॥ मां० का० ॥ ३८ ॥

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ॥

जन्म के कारण का अभाव होने से ब्रह्म बाह्याभ्यन्तर वर्ती और अजन्मा है। रज्जु में सर्प के समान जीव का जन्म अविद्या के कारण है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं, क्योंकि आत्म सत्य का अनुभव होने से उस का विरोध हो गया है इस लिए ब्रह्म अजन्मा है और इसी से अनिद्र भी है। यहां अविद्यारूपी अनादिमाया ही निद्रा है। अपने अद्वयस्वरूप से वह स्वप्न से जगा हुआ है, इस लिए अस्वप्न है । उसके नामरूप भी अज्ञान के कारण हैं। ज्ञान होने पर वे रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्प के समान नष्ट हो जाते हैं अतः ब्रह्म किसी नाम द्वारा कथन नहीं किया जाता और न किसी प्रकार उसका रूप ही बताया जाता है इस लिए वह अनाम और अरूप है। आविर्भाव तिरोभाव से रहित सदा ही भासने वाला अर्थात् नित्य प्रकाश स्वरूप है। अतः सर्व और ज्ञप्तिरूप होने से वह सर्वज्ञ है । इस प्रकार के ब्रह्म में कोई उपचार (यानी कर्तव्य) नहीं

है । जिस प्रकार की दूसरों को आत्मस्वरूप से भिन्न समाधि आदि कर्तव्य हैं । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है इस लिये अविद्याका नाश हो जाने पर विद्वान् को कुछ भी कर्तव्य रहना सम्भव नहीं है । जैसे अन्य श्रुति भी कहती हैं तथा स्मृति भी कहती है—सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ऐसे भगवत् वाक्य है (हे पार्थ सम्पूर्ण ज्ञान में ही परिसमाप्त होते हैं) ॥ माँ० का० ॥ ३-३६ ॥

श्रुतिः—ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवाऽस्तिकिञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त कृतकृत्य योगी का कुछभी कर्तव्य नहीं है यदि कर्तव्य है तो वह तत्त्ववित् नहीं है ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म तृप्तश्चमानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

जो पुरुष केवल आत्मा में क्रीड़ा करता है आत्मामें तृप्त रहता है आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है उसके लिए कोई कर्तव्य शेष रहता ही नहीं है ॥ गी० ॥ ३-१७॥

ननु—संन्यस्य सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यस्येत।
वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्मात् वेद न संन्यस्येत् ॥

सब कर्मों का त्याग करे परन्तु एक वेद को नहीं त्यागे क्योंकि वेद का त्याग शूद्र को है इस लिए वेद का त्याग नहीं करना चाहिये ॥ (समाधान—यह वर्ण विभेद और विधि निषेध साधकों के लिए है। यहां सिद्ध अवस्था तुरीय पद में वर्ण विभाग नहीं है ॥

यथाऽमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्।
एवं तं परमं ज्ञात्वा वेदैर्नास्ति प्रयोजनम् ॥

जैसे अमृत से तृप्त पुरुष को दूध से क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं इस प्रकार परम आत्म-तत्त्व को जान कर वेद का भी कुछ प्रयोजन नहीं ॥

॥ पैङ्गलो० ॥ ४-६ ॥

श्रुतिः—ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ॥

ग्रन्थ के अर्थ के अवधारण में निपुणमति पुरुष ग्रन्थार्थ का अभ्यास कर ज्ञान और विज्ञान से तत्व

पदार्थ को जानकर सम्पूर्ण ग्रन्थों का त्याग करे जैसे धान्यार्थी शुद्ध धान निकाल कर पुलाल का त्याग करता है ॥ १८ ॥ इत्यादि श्रुति स्मृत्यादि हैं)

॥ ब्र० वि० उ० १८ ॥

❀ कवित्त नँ० ३३ ❀ (उपसंहार)

तीन देह हीन जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नहीं
तीन काल हीन कालातीत कहलाया है।
तीन गुण हीन माया प्रतिबिम्ब ईश नहीं
तीन ताप हीन कहो जीव कहाँ पाया है॥
एक के अभाव से द्वैत कहना बने नहीं
दो के अभाव नहीं तृतीय दरशाया है।
एक दो तीन हीन तुरीय कहना होवै नहीं
रामाश्रम तुरीयातीत तूष्णी ही बताया है॥

श्रुतिः- न बुद्धिर्न विकल्पोऽहं न देहादित्रयोऽस्म्यहम् ।
न जागृत्स्वप्नरूपोऽहँ न सुषुप्तिस्वरूपवान् ।
न तापत्रयरूपोऽहं नैषणात्रयवानहम् ॥

न मैं बुद्धि हूं न विकल्प रूप हूं न तीन देह हूं न जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्था रूप हूं 'आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक तीन ताप रूप नहीं न तीन एषणा वाला ही हूँ ।। ते० वि० ॥ ३-४५ ।

देहत्रयमसद्धिद्धि कालत्रयमसत्सदा ।
गुणत्रयमसद्धिद्धि ह्यहं सत्यात्मकः शुचिः ॥

तीनों देहों को असत्य जान और तीनों काल सदा असत्य हैं और तीनों गुणों को असत्यजनों में सत्य आत्मा सदा शुद्ध स्वरूप हूं ॥ ते० वि० ॥ ३-४६ ॥

देहत्रयविहीनत्वात्कालत्रयविवर्जनात् ।
जीवत्रयगुणाभावात्तापत्रयविवर्जनात् ॥

यह (आत्मा) तीन देह से रहित है तीन काल से रहित कालातीत है और तीन गुणों के अभाव से माया का अभाव है माया के अभाव से मायोपहित चैतन्य ईश्वर का अभाव है और तीन ताप हीन होने से जीव का अभाव है ॥ ते० वि० ॥ ५-१८ ॥

मोहनिद्रा न तत्रास्ति तेनायं जागरो महान् ।
भावादयो न भासन्ते तेनायं नैव जागरः ॥

इस निर्वाण स्वरूप आत्मा में मोहरूपी निद्रा नहीं है इस लिए यह एक महान् जागरण है परन्तु इसे जागरण भी कैसे कहें क्योंकि इसमें घटादि पदार्थ तथा उनके अभावों की प्रतीति नहीं रहती।

अपूर्वं भासते वस्तु तेन स्वप्नोयमुत्तमः।
दृश्यं न भासते तत्र तेन स्वप्नो न चैव सः॥

इस निर्वाण आत्मस्वरूप के प्राप्त हो जाने पर एक अदृष्ट पूर्व (चमत्कारी) पदार्थ के दर्शन मिल जाते हैं इससे हम इस (आत्मदर्शन) को एक उत्तम स्वप्न कहते हैं परन्तु इसे स्वप्न कहना भी ठीक नहीं क्योंकि इस आत्म-प्रकाश के हो जाने पर (लौकिक स्वप्न की तरह) किसी भी दृश्यका भान नहीं होता।२।

अभावात्सर्वभावानां सुषुप्तिः सुस्वरूपिणी।
न जाड्यं न तमस्तत्र सुषुप्तिरपि नैव सा॥

इस अवस्था के आने पर सब पदार्थों का अभाव हो जाता है इस लिए सुख रूप होने से इसको एक प्रकार की सुषुप्ति कहा जा सकता है। परन्तु इसमें जड़ता और अन्धकार दोनों ही नहीं रहते इस लिए

इसको सुषुप्ति कहना भी तो ठीक नहीं है यह आत्म-स्थिति ऐसी ही कुछ अद्भुत है कि कोई भी शब्द इसके वर्णन करने के लिए पूरा नहीं उतरता ॥३॥

अवस्था त्रयनिर्मुक्तं तुरीयमिति कीर्तितम्।
नैवैकद्वित्रिविज्ञानं तुरीयं किमपेक्षया ॥

जो जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं से रहित हो उसे 'तुरीय' कहा जाता है। परन्तु जब एकत्व-द्वित्व तथा त्रित्व का ज्ञान ही न हो तो बताओ कि तुरीय (चौथापन) किस की अपेक्षा से हुआ (क्योंकि संख्याएं तो एक दूसरे की अपेक्षा से हुआ करती हैं, इस लिए इसे तुरीय कहना भी युक्तिसंगत नहीं है) ॥४॥

जीवस्यैतन्निजं रूपं तेन जीवोयमुच्यते ।
जीवचेष्टा न तत्रास्ति तेन निर्जीविता स्फुटा॥

इन चारों अवस्थाओं का प्रकाशक चैतन्य ही इस जीव का वास्तविक स्वरूप है इस लिए इस (वर्णनीय आत्म प्रकाश को जीव कह सकते हैं । परन्तु इस शुद्ध आत्म चैतन्य में जीव की (कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि) चेष्टाएं नहीं होतीं इसी से इस (आत्म चैतन्य) की

की निर्जीवता स्पष्ट हो जाती है फिर भला इसे जीव भी कैसे कहा जाय ? ॥५॥

सच्चिदानन्दरूपत्वाद् ब्रह्म चेन्नापि तद्भवेत्।
यो वेद सतु न ब्रूते यो न वेद गिरास्य किम्॥

सच्चिदानन्द रूप होने से यदि इस आत्मस्वरूप को ब्रह्म कहा जाय तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि जो इसे जानता है वह तो इसके विषय में कुछ कहता ही नहीं तथा जो जानता ही नहीं उसके कहने से क्या ॥ ६ ॥

तस्माच्छ्रुतिः प्राह सत्यमवाङ्मनसगोचरम्।
यथानुभूतं मुनिभिस्तथैवेद न संशयः ॥

ये (पूर्वोक्त) सब अनुपपत्तियां देख कर ही वेदों ने इसे वाणी और मन का अविषय कहा है अपने अनुभवों के द्वारा मुनि लोगों ने भी इसे (मन वाणी का अविषय) पाया है इसमें किसी प्रकार का सन्देह मत करो। ग्रंथकार का भाव यह है कि मेरे अनुभव ने भी यही अनुमोदन किया है ॥७॥

एतदन्तसमाम्नाय एतदन्ता तपस्विता ।
उपदेशोप्येतदन्त एतदन्ता विवेकता ॥

इस आत्मस्वरूप में आकर (पहुंचकर) वेद समाप्त हो जाते हैं। श्रुतिः (सर्वे वेदा यत्पद्मामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति) (क० उ० ३-१६) तपस्विता का अन्त हो जाता है उपदेश बन्द हो जाते हैं और विवेकता की इति हो जाती है॥ ८ ॥

❀ कवित्त नँ० ३४ ❀ (उपसंहार)

चार ही महावाक्य चारों वेदों में वखान
किये महावाक्यहीन ब्रह्म वेदों में पाया है।
'ॐ अयमात्मा ब्रह्म' महावाक्य से हीन कहा
'ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म' से भी दूर दरशाया है॥
'ॐ अहं ब्रह्मास्मि' से लाखों कोस दूर कहा
'ॐ तत्त्वमसि' वाक्यरूप ब्रह्म नहीं पाया है।
'ॐ कार वाच्यहीन' सर्ववाच्य हीन सोई
रामाश्रम तुरीयातीत तूष्णी ही वताया है॥

अथ महावाक्यानि चत्वारि—यथा—'ॐ अहं ब्रह्मास्मि' 'ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म' 'ॐ तत्त्वमसि' 'ॐ अयमात्मा ब्रह्म' ।

इनके ऋषि छन्द देवता आदि शुक रहस्योपनिषद् में देखो।

सर्वमस्तीति नास्तीति निश्चयं त्यज्य तिष्ठति।
अहं ब्रह्मास्मि नास्मीति सच्चिदानन्दमात्रकः॥

सर्व है और नहीं है इस निश्चय को भी जब त्याग कर जो स्थित है और 'मैं ब्रह्म हूं' यह वृत्ति ज्ञान भी नहीं है तब सच्चिदानन्द मात्र कहा गया है। मात्र शब्द से सच्चिदानन्द में वाच्य का निषेध है।

॥ ४-३९ ॥ ते० वि० ॥

किञ्चित्क्वचित्कदाचिच्च आत्मानं न स्पृशत्यसौ।
तूष्णीमेव स्थितस्तूष्णीं तूष्णीं सत्यं न किञ्चन॥

कुछ भी कहीं भी कभी भी आत्मा का किसी से स्पर्श (सङ्ग) नहीं। निष्क्रिय के समान निष्क्रिय से स्थित है वह निष्क्रियता ही सत्य है और प्राणादि क्रियात्मक सब संसार मिथ्या है॥ ते०वि० ॥४-४०॥

कालभेद वस्तुभेद देशभेद स्वभेदकम्।
किञ्चिद्भेदं न तस्यास्ति किञ्चिद्वापि न विद्यते॥
अहं त्वँ तदिद सोऽयं कालात्माकालहीनकः

देश काल वस्तु परिच्छेद भेद से रहित, सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित जिसमें कुछ भी भेद नहीं है और मैं, तू वह यह इत्यादि कुछ भी नहीं है और काल शब्द मृत्यु वाचक है और (मृत्युर्वै तमः) यह श्रुतिः हैं तम अविद्या को कहते हैं। यह अविद्या आत्मा के आश्रय है इससे 'कालात्मा' है और 'तमसः परस्तात्' ऐसी श्रुतिः है वह तम अविद्या से परे है इससे 'कालहीनकः' कहा गया है, भाव यह है कि जिस प्रकार रज्जु अधिष्ठान रूप सर्प का रज्जु आत्मा है रज्जु के आश्रित सर्प है रज्जु सर्प से परे है इसी प्रकार अविद्या ब्रह्म के आश्रित है और ब्रह्म में अविद्या नहीं है वह उससे परे है ॥ ते० वि० ॥ ४-४१ ॥ ४-४२॥

प्रज्ञानवाक्यहीनात्मा अहम्ब्रह्मास्मि वर्जितः।
तत्त्वमस्यादिहीनात्मा अयमात्मेत्य भावकः॥

ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म इससे आत्माहीन है ॐ अहं ब्रह्मास्मि से वर्जित है तत्त्वमसि रहित अयमात्मा का अभाव है।

॥ ते० वि० ॥ ४-७७ ॥

ॐकारवाच्यहीनात्मा सर्ववाच्यविवर्जितः ।
अवस्थात्रयहीनात्मा अक्षरात्मा चिदात्मकः ॥

ॐ कार ब्रह्म का प्रतीक चार पाद कहा अ, उ, म, अर्धमात्रा वेदों में गाया है) यह उपक्रम करके अब इसका उपसंहार करते हैं (ॐकार वाच्यहीन सर्व वाच्य-हीन सोई रामाश्रम तुरीयातीत तूष्णी ही बताया है) यह जो 'अवस्था त्रय' जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति से परे तुरीय स्वरूप आत्मा अक्षर और चैतन्य रूप है यह ॐ-कार वाच्य रहित है और सब वाच्यों से रहित है ।

॥ ते० त्रि० ॥ ४-७८ ॥

एवञ्च प्रकृतेऽप्यात्म शब्दोऽयँ वस्तुलक्षकः ।
न वाचको वाचकत्वहेतोरात्मन्यसम्भवात् ॥

इस प्रकार प्रकृत में ('आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादिमें) भी आत्म शब्द वस्तु का लक्षक है, वाचक नहीं है, क्योंकि आत्मा में वाचकत्व हेतु का असम्भव है ।

॥ बृ० वा० ॥ १-४-६३४ ॥

पष्ठीगुणक्रियाजातिरूढ्यः शब्दहेतवः ।
नाऽऽत्मन्यन्यतमोऽप्यीतेनाऽऽत्माऽभिधीयते ॥

पष्ठी, गुण, क्रिया, जाति, रूढि (अनादि व्यवहार सिद्ध सम्बन्ध विशेष) ये शब्दकी प्रवृत्ति हेतु हैं आत्मा में इनमें से कोई भी नहीं है इस लिए आत्मा आत्म-शब्द का भी वाच्य नहीं है ॥ वृ० वा० ॥ ६२५ ॥

निषेद्धे सति वाच्यत्वे सत्य ज्ञानादिकान्यपि ।
लक्षयन्त्येव नो तत्त्वं ब्रुवते तदसम्भवात् ॥

वाच्यत्व का निषेध होने पर सत्य, ज्ञान, आदि पद भी लक्षक ही हैं ये तत्त्व को कहते नहीं हैं क्योंकि उसका कथन असम्भव है । (बोधसार—
॥ वृ० वा० ॥ १-४-६०६॥

आधार सर्व भूतानां तस्माधारो न कश्चन ।
निराधारस्वरूपँ चेन्नास्ति ब्रह्मतदा क्वचित् ॥

यह ब्रह्म सब आकाशादि भूतों का आधार है उसका कोई भी अन्य आधार नहीं है । यों जब यह निराधार स्वरूप ही हुआ तो यही कहना होगा कि ब्रह्म कहीं भी नहीं है ॥ १ ॥

अधिष्ठानं विना कार्यं न तिष्ठति कदाचन।
सर्वाधिष्ठानरूपंहि कथं ब्रह्म न कुत्रचित॥

अधिष्ठान के बिना कहीं भी कोई कार्य स्थित नहीं होता ऐसी अवस्था में सर्व अधिष्ठान रूप ब्रह्म कहीं भी न हो यह कैसे हो सकता है? ॥ २ ॥

सर्वस्मात्तत्पृथग् ब्रह्म त्विति वक्तुं न शक्यते।
यदात्मक मिद सर्वं सर्वस्मात्तत्पृथक् कथम्॥

यह ब्रह्म सबसे पृथक् है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह सब जगत् जब तदात्मक ही है (इसी आत्मा का विवर्त है) तो फिर यह सबसे पृथक् कैसे हो॥.॥

सर्वस्मादपृथग् ब्रह्म वक्तुमित्यपि नार्हसि।
सर्वसमात्पृथगेवेदमनुभूत महर्षिभिः॥

यह ब्रह्म सब जगत् से अभिन्न है (सर्व रूप ही है) यह भी कहना न चाहिए क्योंकि महर्षि लोगों ने तो इस ब्रह्म का इस असत्य जगत् से पृथक् ही अनुभव किया है। ४ ॥

आत्मरूपमिद वाच्यमिति तर्कस्त्वया कृतः।
अनात्मरूपं किन्वस्तिरवात्मरूपं मतस्त्विदम्॥

यदि यह तर्क करो कि इस ब्रह्म को तो आत्मरूप कहना चाहिए तो यह बताओ कि संसार में अनात्मरूप पदार्थ ही क्या है। जिसकी अपेक्षा इसको आत्म रूप कहा जाय। संसार के सकल पदार्थों का भी तात्विक रूप तो यह आत्मा ही है। फिर ब्रह्म को आत्मरूप कह कर किस विशेषता का प्रतिपादन किया गया।५।

ज्ञानस्य ब्रह्म विषय इति वक्तुं न शक्यते।
ज्ञानस्वरूपं तद्ब्रह्म ज्ञानस्य विषयः कथम्॥

(ज्ञानादेवतु कैवल्यम्) (ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः) इत्यादि श्रुतियों को देख कर। इस ब्रह्म को ज्ञान का विषय कहना युक्ति संगत नहीं होता, क्योंकि इस ब्रह्म का असाधारण स्वरूप तो ज्ञान ही है, फिर वह ज्ञान (वृत्ति ज्ञान रूप) का विषय कैसे हो ॥ ६ ॥

ज्ञानस्वरूपमेवास्तु ब्रह्मेति यदि मन्यसे।
ज्ञेयमेव न यत्रास्ति ज्ञानत्वं तस्य किदृशम्॥

यदि इस ब्रह्म को (ऊपर के विवेचन से) ज्ञानस्वरूप ही मान लिया जाय तथापि यह बात नहीं बनती, क्योंकि जिस ब्रह्म में ज्ञेय (ज्ञान का विषय जगत्) ही नहीं वह ज्ञान रूपी ही कैसे हो ॥ ७ ॥

ज्ञातृस्वरूपमेवास्तु ब्रह्मेति यदि कल्प्यते।
स्वयँ प्रकाशरूपेहि ज्ञानस्याश्रयता कथम् ॥

यदि (ज्ञानरूप की अनुपपत्ति को देख कर) उस ब्रह्म को ज्ञाता ही माना जाय तो ठीक नहीं । क्योंकि जो ब्रह्म स्वयं प्रकाश है वह ज्ञान का (ज्ञानरूप क्रिया का) आश्रय कैसे हो ॥ ८ ॥

सर्वरूपमिदं ब्रह्म वक्तुं कः शक्नुयादिति।
सदेकरूपमेवेद यतः शाश्वतमुच्यते ॥

इस ब्रह्म को सर्वरूप कहने का सामर्थ्य भी किस को है ? यह तो सदा ही एक रूप रहता है । क्योंकि यह तो शाश्वत अथवा नित्य कहलाता है (नित्य पदार्थ अनेक नहीं होते) ॥ ९ ॥

एकरूपमिदब्रह्म न वक्तुमिति शक्यते ।
निर्गुणं तत्परंब्रह्म स्यादेकत यतो गुणः :

यदि फिर उस ब्रह्म को एकरूप मान लिया जाय तो भी ठीक नहीं। क्योंकि उस पर ब्रह्म को निर्गुण माना गया है। इस एकत्व की गणना तो गुणों में की जाती है (यदि उस ब्रह्म में एकत्व रूपी गुण माना जाय तो फिर वह निर्गुण ही कैसे रह जायेगा ?) ॥ १० ॥

निर्गुणं तत्परं ब्रह्म नूनमेतदसाम्प्रतम् ।
अनन्तेनैव गीयन्ते ह्यनन्ता एव तद्गुणा॥

यदि फिर उस ब्रह्म को निर्गुण (सत रज तम गुणों से रहित) ही मान लिया जाय तो यह अत्यन्त अयुक्त बात होगी। क्योंकि उसके अनन्त गुणों (तथा गुणों से बने हुए सृष्टि आदि अनन्त कार्यों) का वर्णन अनन्त स्वयं ही करता रहता है। फिर भला उसको निर्गुण भी कैसे कहा जाय ? ॥ ११ ॥

ब्रह्म नास्तीतिको ब्रूयाद्भातीदं यस्यप्रसत्वतः।
तद्ब्रह्मास्ति ब्रह्मेत्यपि नो नातः सत्तापृथग्यतः॥

जिसकी सत्ता से यह सब प्रतीत हो रहा है उस ब्रह्म को नहीं है यह कौन कहे ? फिर ब्रह्म है यह भी

कौन कहे ? क्योंकि सत्ता भी तो उससे पृथक् नहीं होती । यह सत्ता ही तो ब्रह्म है ? ॥१२॥

अस्वरूपमिदं ब्रह्म विद्वानिति कथं वदेत् ।
स्वस्वरूपमिदं ब्रह्म प्रत्यक्षमनुभूयते ॥

इस ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं है (अर्थात् वह शून्य है) विद्वान् पुरुष यह बात भी कैसे कहे ? क्योंकि स्व-स्वरूप इस ब्रह्म को तो वह विद्वान् प्रत्यक्ष ही अनुभव करता है ॥ १३ ।

स्वस्वरूपमिदं ब्रह्म चेदित्यप्ययथातथम् ।
तत्रकोनु स्वशब्दार्थो यत्स्वरूपमिद भवेत् ॥

वह ब्रह्म स्वरूप है यह बात भी सर्वांश में माननीय नहीं है, क्योंकि इस "स्वस्वरुप" शब्द में स्वशब्द का अभिप्राय बताना चाहिये । जिसका कि इस ब्रह्म को स्वरुप कहा जाय यह स्वशब्दार्थ वस्तु क्या है ? वह ब्रह्म ही है । अथवा उससे भिन्न कोई पदार्थ है ? यदि वह ब्रह्म ही है तो पुनरुक्ति दोष होगा । उस अवस्थामें उस वाक्य का अर्थ यह होगा कि ब्रह्म-ब्रह्म स्वरूप है । यदि उससे भिन्न कोई पदार्थ मानोगे तो ब्रह्म से भिन्न

सब पदार्थों के असत्य होने से व्यर्थता दोष आयेगा। तथा उस अवस्था में इस वाक्य का यह अर्थ होगा कि ब्रह्म असत्स्वरूप है। इस प्रकार स्वशब्द का कोई भी उचित अर्थ सिद्ध न होने से ब्रह्म को स्वस्वरूप कहना भी युक्ति संगत नहीं ठहरता ॥ १४ ॥

पर व्यावर्तकं स्वत्वमिति चेत्तर्हि तद्वद।
यत्र स्व परभावो न ब्रह्म किं तत्र नास्तिहि॥

यदि स्वशब्द का अर्थ पर व्यावर्त्तक हो तो बताओ जिन अवस्थाओं में (मूर्च्छा निद्रा समाधि में) स्व' 'पर'—भाव ही नहीं रहता तो क्या वहां ब्रह्म ही नहीं रहता ? ॥ १५ ॥

अहमेवपरं ब्रह्म ब्रह्माहमिति च श्रुतेः।
कथं भवेदहंब्रह्माहन्ता यत्र न विद्यते।

"ब्रह्माहम्" इस श्रुति के अनुसार अहं ही को ब्रह्म कैसे माना जाय। उस ब्रह्म में अहन्ता ही नहीं रहती।

॥ १६ ॥

त्वमेव तत्परं ब्रह्म त्वं ब्रह्मेति श्रुतिर्जगौ।
त्वमेव तत्कथं ब्रह्म त्वन्ता यत्र न वर्तते॥

यद्यपि श्रुति ने 'त्वं ब्रह्म' यह कहा है, केवल इसी आधार पर त्वं ही को परब्रह्म मान लेना ठीक नहीं। क्योंकि उस ब्रह्म को त्वं ही कैसे कहा जाय ? जिसमें त्वन्ता है ही नहीं॥ १७॥

तद्ब्रह्मेति श्रुतेर्वक्तुं तद्ब्रह्मेति न शक्यते।
अत्यन्ताव्यवधाने हि परोक्षमिव तत्कथम्॥

'तद्ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार उस ब्रह्म को तद् कहना भी ठीक नहीं होता। क्योंकि सदा अत्यन्त अव्यवहित (समीप) रहने वाले उस ब्रह्म में परोक्षता कैसे हो॥ १८॥ तो कैसे जाने ?

नष्टायाँ मोहनिद्रायां गलिते मानसे मुनेः।
यच्छिष्टं तत्परं ब्रह्म मनोवाचामगोचरम्॥

मोहनिद्रा नष्ट हो जाने पर तथा मन के गल जाने पर जो कोई तत्त्व शेष रह गया है वही परब्रह्म है परन्तु वहाँ मन वाणी की पहुँच नहीं। यही कारण है कि उसका कोई नाम भी रखा नहीं जा सकता॥ १९॥

मौनमेवावलम्बन्ते यस्यां हरिहरादयः ।
सा तु वर्णयितुं शक्या न केनापि कदाचन ॥

इस आत्मस्वरूप को हरि हर आदियों ने कहने में मौनता का अवलम्बन किया है यानी इसको कहने को विष्णु शिव ब्रह्मा आदि भी समर्थ नहीं फिर और कौन कह सकता है। अर्थात् कोई भी किसी काल में कभी भी नहीं कह सकता।

(शङ्का) गुरु और वेदान्त शास्त्र तो आत्मा को साक्षात् कहते हैं यानी सिद्ध करते हैं फिर कैसे कहते हो कि कोई भी किसी काल में नहीं कह सकता ? समाधान—

श्रुतिगुर्वाद्यनात्मानमपेक्ष्यात्मा प्रसिध्यति ।
इति चेत् तदपेक्षाऽपि न स्वरूपस्य सिध्यति॥

श्रुति गुरु आदि अनात्मा की ही अपेक्षा करके आत्मा सिध्दि होती है, यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि आत्मा के स्वरूप की सिध्दि के लिए गुरु शास्त्र आदि की अपेक्षा नहीं है ॥ १ ॥

गुरुशास्त्रादयो भ्रान्तिं वारयन्त्येव केवलम् ।
न त्वात्मानं साधयन्ति स्वयं तेनाऽऽत्मवत्त्वतः ॥

गुरु शास्त्र आदि भ्रान्ति का निवारण करते हैं आत्मा की सिध्दि नहीं करते क्योंकि आत्मा तो स्वरूप ही है।

गुर्वादयो हि सात्मान आत्मनैव भवन्ति हि ।
विनाऽऽत्मानं निःस्वरूपाःकथं ते साधयंति तम् ॥

गुरु शास्त्र आदि भी आत्मा से ही आत्मा वाले हुए हैं आत्मा के बिना तो जब उनका स्वरूप ही नहीं रहता तब वे आत्मा को कैसे सिध्द करेंगे ?

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा ।
तत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥

इस सम्पूर्ण अजन्मा धर्मों में नित्य-अनित्य नामों की प्रवृत्ति नहीं है। जहां शब्द ही नहीं है उस आत्मा में [नित्य-अनित्य] विवेक भी नहीं कहा जा सकता ॥६०॥

व्यवहर्तुं 'शक्य एप न च' माण्डूक्यवाक्यतः ।
अमात्रो यश्चतुर्थः सोऽव्यवहार्यं इतीदृशात ॥

इस आत्मा का व्यवहार नहीं हो सकता है, क्योंकि माण्डूक्य में कहा है कि वह तुरीय अमात्र है अव्यवहार्य है (शंका) तो क्या उपसंहार होने से और वाच्यत्व का निषेध होने से ग्रन्थ की समाप्ति हो गई (समाधान) नहीं जो कुछ मन्द ज्ञानी हैं यानी लेशाऽविद्या से जिनको प्रारब्ध से भोग भासता है उन सम्यक् दर्शी जीवन्मुक्त महात्माओंको जैसे विदेह मुक्ति होती है सो बाकी ग्रन्थ से दिखलाते हैं--

सूत्र—बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः

मन्द और मध्यम कक्षा के विवेक होने पर भी बाधित दुखों की अनुवृत्तिमे भोग भोगना पड़ता है।७७।

॥ जीवन्मुक्तश्च ॥ सां० द० ८२ ॥

जीवन मुक्त तो हो जाता है। मन्द वा मध्यम विवेक के द्वारा मनुष्य वर्तमान जन्म में अवशिष्ट आयु काल में भोग तो भोगता रहता है परन्तु पिछले कर्मों को निपटाता मात्र है आगे को बन्ध हेतु कर्म नहीं करता और इससे वह जीवनमुक्त हो जाता है।७८॥

चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः (सां० द० ३-८२)

जैसे कुम्हार एक बार दण्ड से चक्र को घुमा कर दण्ड हटा लेता है और चक्र घुमता हुआ धीरे धीरे शांत होता है इसी प्रकार मनुष्य देह रूप चक्र तब तक घूमता रहता है जब तक प्रारब्ध कर्मों का प्रभाव शेष है। इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष को प्रारब्ध कर्म फल भोगार्थ देह धारण किये रहना पड़ता है ॥ ८२॥

संस्कारलेपतस्तत्सिद्धिः (साँख्य द० ३-८३)

(पूर्व) संस्कार के लेश से ही इस (जीवन्मुक्त) के शरीर यात्रा में भोग की सिद्धि है ॥८३॥

कवित्त नँ० ३५

अभ्रधूली धुन्ध सर्व आकाश में छाय करके सूर्य चन्द्र तारा को अदृष्ट कराया है। सूर्य चन्द्र तारों को अदृष्ट करके फिर भी आकाश से स्पर्श किंचित् होने नहीं पाया है। ऐसे ही व्याधि रोग पीड़ा सब आन करके बुद्धि, मन, इंद्रियों को व्याकुल बनाया है। आकाश रूपी आत्मा से किंचित् भी स्पर्श नहीं रामाश्रम तुरीय पद तूष्णी ही बताया है।

स्वभावतः आत्मा तीनों कालों में असङ्ग है यह दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं—

यथा विशुद्धमाकाशं सति वाऽसति वा मले।
नीहारादौ तथैवाऽऽत्मा कायकारण वस्तुनि॥

जैसे कुहरे आदि मल के रहने या न रहने पर भी आकाश सदा विशुध्द ही रहता है कुहरे आदि के सम्बन्ध मे आकाश में मल का वास्तविक असर कुछ नहीं पड़ता वैसे ही आत्मा शोकादि मल की सद्‌भाव या असद्‌भाव दशा में सदा शुध्द ही रहता है। अध्यस्त संसार धर्म से आत्मा में वास्तविक कुछ सम्बन्ध नहीं होता, कार्य कारणात्मक अनात्म पदार्थ अप्रकाशात्मक जड़ स्वरूप होने से मल कहे जाते हैं॥ २८॥

भ्रान्त्या यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन गुणेन वा ।
दोषेणाप्यणुमात्रेण स न संबध्यते क्वचित् ॥

भ्रान्ति से जो आत्मा में प्राण मन बुद्धि इन्द्रिय आदि का अध्यास है उनके गुण और दोष का आत्मा में अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता । इसी को श्री भाष्यकार जी ब्रह्म सूत्र की सम्बन्ध भाष्य में लिखते हैं यथा—

तत्रैव सति यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण
गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते ॥

ऐसा होने पर जिसमें जिसका है उसके गुण अथवा दोष के साथ अणुमात्र भी उसका सम्बन्ध नहीं होता ॥ इति ॥

नाऽसङ्गात्मविदा किंचिद्ग्रन्थिरात्मनि वीक्ष्यते ।
अन्योन्याध्यासरूपस्य ग्रन्थेर्बोधे निवर्तनात् ॥

"असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इस श्रुति के अनुसार जो आत्मा को असङ्ग जानता है वह आत्मा में कोई ग्रन्थि नहीं देखता आत्मा का यथार्थ बोध होने से अन्योन्याध्यास रूप ग्रन्थि की निवृत्ति हो जाती है ॥ २०१ ॥

कवित्त नं० ३६

व्याधि में प्रलाप चाहे तत्व का चिन्तन करो मन का स्वभाव चाहे तूष्णी दृष्टि आया है । बुद्धि भी चेष्टित चाहे निश्चय को त्याग देवो कौन आया कौन

गया भेद नहीं पाया है।पांचों ज्ञानेन्द्रिय अपने विषयों को भूलो चाहे चेष्टा में रहो चाहे शून्य पड़ी काया है। निर्विकार एक रस ज्ञानी को दुःख कहां रामाश्रम तुरीय पद तूष्णी ही बताया है।

निःसङ्गस्याऽभिसम्बन्धो देहेनाऽस्य न कश्चनः ।
नातोदेहादिदुःखेन दुःखित्वं प्रत्यगात्मनः ॥

"असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इत्यादि श्रुति से आत्मा सर्व सङ्ग शून्य है अतः उसके साथ देह का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है अतएव देहादि गत दुःख से आत्मा कभी दुःखी नहीं हो सकता, भ्रमदशा में अनुभूयमान दुःखादि अज्ञान प्रयुक्त है।१।

श्रुतिः— आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरत् ॥(बृ.उ.४-४-१२

यह आत्मस्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, 'तत्वमसि' इत्यादि श्रुति रूप प्रमाण से प्रमाख्य परिपूर्ण यह पुरुष मैं ही हूँ यह जानता है तो फिर क्या इच्छा करता और किस कामना से शरीर के पीछे संतप्त हो। (शङ्का)— यदि तत्व ज्ञानोत्तर भी इन्द्रिय आदि द्वारा रूप आदि की कल्पना होती रहेगी तो मुक्ति कैसे होगी ? क्यों द्वैत ज्ञान की निवृत्ति के बिना निष्प्रपञ्च आत्मा का सुखावस्थान नहीं हो सकता ?

रूपाद्यकल्पनान्मोक्षः श्रूयते न क्वचिच्छ्रुतौ ।
कल्प्यतामत्र रूपादेः का ते हानिः प्रकल्पने ॥

समाधान—रूप आदि की कल्पना न करने से मुक्ति होती है, ऐसा किसी श्रुति में श्रुत नहीं है इस लिए तत्त्वज्ञानी सुख से रूप आदि की कल्पना करे कोई क्षति नहीं है अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति में तत्प्रयुक्त कोई बाधा नहीं है। शंका—

मृत्योः स मृत्युमित्येव द्वैतदृष्टिरपोद्यते ।
यदि तर्हि न पश्यामि द्वैतं तस्य प्रमापणात् ॥

'मृत्यो':—इत्यादि श्रुति से तत्त्वज्ञान काल में द्वैत दर्शन का बाध बताया गया है इस लिए द्वैत दर्शन की अनुमति कैसे देते हो ? (समाधान)—द्वैत का सत्य रूप से दर्शन निषिद्ध है संस्कारानुवृत्तिवश जीवन्मुक्ति दशा में कल्पित द्वैत-दर्शन के विषय में अनुमति है अन्यथा जीवन्मुक्त की शरीर यात्रा भी नहीं हो सकेगी इस लिए काल्पनिक द्वैतदर्शन मोक्ष में बाधक नहीं है।

निषेधति श्रुतिर्द्वैतदृष्टिमेव न कल्पनम् ।
प्रत्युतैतस्य यत्ने न कल्पितत्वं वदत्यसौ ॥

द्वैतनिषेध बोधक "नेह नानास्तिकिञ्चन" "मृत्योःस-मृत्युम्" इत्यादि श्रुतियां द्वैत के पारमार्थिकत्वरूप से दर्शन का निषेध करती हैं, कल्पित द्वैत दर्शन का नहीं। मोक्ष-विरोधी द्वैत दर्शन त्याज्य अविरोधी नहीं। अतः अविरोधी कल्पित द्वैत का उक्त श्रुतियां समर्थन करती हैं,अन्यथा तत्त्वो-पदेश ही नहीं बन सकेगा और सद्यः विदेह-कैवल्य प्राप्ति का

भी असंग हो जायेगा अतएव "तस्य तावदेव चिरं यावन्न-विमोक्ष्य अथ संपत्स्य" इत्यादि श्रुति के वल से जीवन्मुक्ति दशा में कल्पित द्वैत का यत्न से समर्थन होता है।

लोकान्तरे वात्र गुहान्तरे वा तीर्थांतरे कर्म परम्परान्तरे।
शास्त्रान्तरे नास्त्यनुपश्यतामिह स्वयं परब्रह्म विचार्यमाणे॥

कवित्त नं० ३७

जगन्नाथ वद्रीनाथ रामेश्वर द्वारका में गङ्गा प्रयाग, वड़ा तीर्थ कहलाया है। नैमिषारण्य कुरुक्षेत्र काशी अयोध्या मथुरा तीर्थराज पुष्कर में चाहे अंत पाया है। चाण्डाल के गृह में चाहे सड़ी गंदी नालियों में शुभ या अशुभ ठोड़ कहीं तजी काया है उत्क्रांति गति हीन ज्ञानी मुक्त रूप सदा रामाश्रम तुरीय पद तूष्णी ही वताया है।

श्रुतिः— तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽथवा।
ज्ञान सम्पत्ति समये मुक्तोऽसौ विगताशयः॥

इस शरीर को तीर्थ पर छोड़ो या श्वपच (चाण्डाल) के गृह में त्यागो यहां पवित्र स्थानों में तीर्थ और अपवित्रों में चाण्डाल इसके वीच सव आगए उस तत्ववेत्ता की ज्ञान समकाल में ही मुक्ति है इसमें संशय नहीं। (अन्नपू० उ० ॥ १०१)

तीर्थे श्वपचगृहे वा तनुं विहाय याति कैवल्यम् ।
प्राणानवकीर्यंयाति कैवल्यम् नष्ट स्मृतिरपि
परित्यजं देहम् ज्ञानसमकाल मुक्तः० ॥

इस देह को तीर्थ वा चाण्डाल के घर पर वा कहीं भी
ाग देवो यह तत्त्ववेत्ता कैवल्य प्राप्त ही है। प्राण विखरतेही
नी नष्ट होते ही विदेहमुक्त है। चाहे नष्ट स्मृति भी होकर
ीर त्याग करें परन्तु वह तो ज्ञान समकाल में ही मुक्त है ।

ति:— यत्र यत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना ।
यथा सर्वगतं व्योम तत्र तत्र लयं गतः ॥
घटाकाशमिवात्मानं विलयं वेत्ति तत्त्वतः ।

जहाँ २ भी ज्ञानी शरीर को छोड़ता है और जिस किस
ार से भी (यानी काल मृत्यु या अकाल मृत्यु) से छोड़ता
वह जिस प्रकार घटाकाश सर्वत्र व्याप्त आकाश में लय भाव
प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार यह ज्ञानी भी सर्वत्र व्याप्त
भाव को प्राप्त जाता है ॥ इति पैंगलोपनिषत् ॥ ४-१२ ॥

श्री भगवान् शंकराचार्य जी विवेक चूड़ामणि में लिखते हैं:—

ानि ब्रह्मणि तिष्ठतो मुनेः पूर्णाद्वयानंदमयात्मना सदा ।
देशकालाद्युचितप्रतीक्षा त्वङ्मांसविट्पिंडविसर्जनाय ॥

पूर्ण अद्वयानन्द सच्चिदानन्दात्मक रूप से जो ज्ञानी स्थित
उसको इस त्वचामांस विष्ठा के पिण्ड को त्याग करने में

पवित्र जगह की प्रतीक्षा नहीं। वह तो सदा मुक्त ही है (प्रश्न) उसके प्राण का उत्क्रमण होता है या नहीं? समाधान— यथा श्रुतिः—

नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समनीयंते(बृ.उ.३-२-११)

नहीं वे उत्क्रान्त नहीं होते हैं ऐसा श्री याज्ञवल्क्य जी ने कहा है। वे यहीं परमात्मा के साथ अविभक्त हो जाते हैं। वैसे ही दूसरी श्रुति है—

स यथेमानद्यःस्यंदमानाः समुद्रायणा समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छंति एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छंति॥

वह जिस प्रकार ये नदियां समुद्र की ओर लक्ष्य करके जाती हैं और बहती हुई समुद्र को पाकर उसी में विलीन हो जाती हैं उनके नामरूप नष्ट हो जाते हैं समुद्र है ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार सब ओर से पूर्णतया देखने वाले इन परमेश्वर की ये कलाएं परम पुरुष परमात्मा को पाकर विलीन हो जाती हैं सब नाम रूप नष्ट होकर पुरुष यह नाम रहता है। इससे परमात्मा के साथ प्राण अविभक्त हो जाते हैं यह स्पष्ट दिखलाया है॥ (६–५)॥

अथाकामयानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामंतिब्रह्मैवसंब्रह्माप्येति॥

जो अकाम निष्काम आप्तकाम और आत्म काम होता है। उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता वह ब्रह्म ही रह कर ब्रह्म को प्राप्त होता है॥ (बृ० उ० ४–४–६)॥

अथ शब्द हेत्वर्थ है चूंकि काम से कामी को संसार होता है अतः अकामयमान मुक्त होता है। अथवा कामिवैषम्य सूचनार्थ अथ शब्द है कामी को संसार होता है यह कह चुके हैं कामना के अभाव से मुक्ति होती है यह सिद्धान्त है

स्पष्टो ह्येकेषाम् । (ब्र. सू. ४—२—१३)

एकेषाम्— काण्वानाम् [शाखायां प्राणानां परब्रह्मविदः देहादुत्क्रांतिनिषेधः] स्पष्टः— विस्पष्टः हि— यतः [उपलभ्यते, अतः न तस्य उत्क्रांतिः, अपितु अत्रैव लयः इति भावः] ।

क्योंकि काण्वों की शाखा में परब्रह्मविद् के प्राणों की उत्क्रान्ति का निषेध उपलब्ध होता है इस लिए तत्त्ववेत्ता के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता है किन्तु यहीं पर लय होता है॥

स्मर्यते च । (ब्र. सू. ४—२—१४)

इस सूत्र का भाष्यानुकूल अर्थ लिखते हैं—

(स्मर्यतेऽपि च महाभारते०)

सर्व भूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः ।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः ॥

(शां. प. २३९-२३)

महाभारत में गति और उत्क्रान्ति की अभाव की स्मृति है (सब भूतों का आत्मरूप है और जिसको भूतों का सम्यक्

अर्थात् आत्मभाव से ज्ञान है, उसके लिए प्राप्य स्थान नहीं है ऐसे प्राप्य पदरहित ब्रह्मवेत्ता के पद की इच्छा करने वाले देवता भी उसके मार्ग में मोह को प्राप्त होते हैं—उसके मार्ग का अभाव होने से देव उसे नहीं जानते) (शंका)—परन्तु सर्व ब्रह्म ही जिसका आत्मा है ऐसे ब्रह्मवेत्ताकी गतिभी स्मृतिमें है।

(शुकः किलवैयासकिर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा०

कहते हैं कि व्यास जी के पुत्र शुक मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से आदित्य मण्डल की तरफ गये और उनके पीछे जाकर पिता ने उनको बुलाया तब उन्होंने (ओ) ऐसा उत्तर दिया) (समाधान—नहीं योगबल से सशरीर ही विशिष्ट देश प्राप्त करके शरीर का त्याग करता है, उसका यह शरीर त्याग है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि वह सब प्राणियों से दृश्य था, ऐसा उपन्यास है क्योंकि शरीर रहित जाता हो उसको सब भूत देख नहीं सकते। इसी प्रकार वहीं उपसंहार किया है—यथा—

शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं कृत्वान्तरिक्षगः।
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूतगतो भवत्॥ इति

(शुकदेव तो अन्तरिक्ष में जाकर पवन से विशेष त्वरित गति करके और अपना प्रभाव दिखाकर सर्वभूतगत हुए इसलिए परब्रह्मवेत्ता की गति और उत्क्रान्ति का अभाव है॥१४॥

(सन्देह) तत्त्ववेत्ता की वाक् आदि इन्द्रियां अपने कारण में लीन होती हैं या परब्रह्म में ?

(पूर्वपक्षः) गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः० (मुं.उ.३-२-७)

मोक्ष काल में देहारम्भक प्राणादि पन्द्रह कलाएं अपने २ कारण में लीन हो जाती हैं इस प्रकार अन्य श्रुति विद्वान् की कलाओं का उनके कारणों में लीन कहती हैं। परब्रह्म में नहीं?

सिद्धान्ती— तानि परे तथा ह्याह (ब्र.सू.४-२-१५)

परब्रह्मवेत्ता की वे प्राणशब्द से कही गई इन्द्रियां और भूत उसी पर आत्मा में लीन होते हैं। यथा श्रुति—

एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणा पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति० (प्रश्नोप० ६—५)

जैसे नदियां समुद्र में प्राप्त होकर विलीन हो जाती हैं—वैसे ही समन्तात् अनवच्छिन्न प्रत्यग् ब्रह्म का दर्शन करने वाले इस जीव की स्वानुभवगम्य पुरुष में कल्पित ये प्राणादि सोलह कलाएं परमपुरुषको प्राप्तकर पुरुषात्मभाव पाकर उसमें विलीनहो जाती हैं और "गताः कलाः" इत्यादि शास्त्र तो अविद्वानों क [illegible]ट से उदाहृत है, 'गताः कलाः' यह श्रुति व्यवहार की अपेक्षा से है अर्थात् विकार पृथ्वी आदि स्वप्रकृति में लीन होते हैं इस प्रकार इस श्रुति द्वारा व्यवहार की दृष्टि से कहा गया है। परब्रह्म वेत्ता की सम्पूर्ण कलाएं ब्रह्म में ही सम्पन्न होती हैं यह दूसरी श्रुति तो विद्वत्प्रतिपत्ति की विद्वद् दृष्टि की अपेक्षा रखती है इस लिए दोनों श्रुतियों का विरोध नहीं है।१५॥ (शंका) इनका परब्रह्म में सावशेष लय होता है क्योंकि व्यवहारियों में ऐसी [illegible] देखी जाती है।

(प्रलय सादृश्य सुषुप्तिवत्)   समाधानपु यथा सूत्र—

॥ अविभागो वचनात् ॥ (ब्र० सू० ४-२-१६)

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं - अविभागसे ही प्राप्त होता है। किससे ? वचन से,क्योंकि श्रुति कलाओंका प्रलय कह कर—

भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते
स एषोऽकलोऽमृतो भवति (प्रश्न० ६-५)

(इन कलाओं के नाम और रूप का नाश होता है जो तत्व नष्ट नहीं होता। इस अनष्ट तत्व को ब्रह्मवेत्ता कहते हैं वह कलारहित अमृत है) ऐसा श्रुति कहती है और—

विमतःनिरवशेषः विद्याकृतत्वाद् रज्ज्वां विद्यया सर्पलयवत्)

(इस अनुमान से निर्विशेष लय सिध्द होता है) अविद्या से उत्पन्न हुई कलाएं विद्यानिमित्तक प्रलय में सावशेष हैं यह उपपन्न होता है इस लिए अविभाग ही है ॥ १६ ॥

अनारब्धफलँ कम तदुत्क्रान्तेः प्रयोजकम् ॥
स्थिते निमित्तमारब्धं ते नष्टे ज्ञानभोगतः ॥

॥ वृ० वा० ३-२-२० ॥

अनारब्ध फलक वे कर्म कहे जाते हैं जो अपने फलों को देने के लिए अभी प्रवृत्त नहीं हुए हैं। कर्मों के फलोन्मुख परिणाम में देशकाल आदि तथा वलवत्कर्म प्रतिबन्धाभाव हेतु है। कोई कर्म जन्मान्तर में फल देने वाले होते हैं क्योंकि वर्तमान जन्म में तन्निमित्त, देशकाल आदि नहीं हैं उन कर्मों की स्थिति

रहती है। वे ही, प्राणोत्क्रान्ति के निमित्त होते हैं। तत्ववेत्ता के अनारब्ध फलक नहीं रहते जाते। "भिद्यते हृदय ग्रन्थि रच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" इत्यादि श्रुति और "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुनः" इत्यादि स्मृति से तत्वज्ञान से सब का नाश हो जाता है; अतः प्रयोजका भाव से प्राणोत्क्रमण नहीं होता तथा स्थिति का प्रयोजक प्रारब्ध कर्म है। वह भी तत्वज्ञानी में नहीं है। प्रथम के अभाव में कारण तत्वज्ञान है और द्वितीय के अभाव में कारण भोग है। उक्त दो कारणों से दो प्रयोजकों की निवृत्ति होने से तदीय प्राणों की उत्क्रान्ति या स्थिति दोनों नहीं होती, यह श्रुति का तात्पर्य है।

उपादाननिमित्ताभ्यां हीनानामुत्क्रमः कथम्।
कथं वाऽत्र स्थितिस्तस्माद्युक्त आत्यन्तिको लयः॥
॥ वृ० वा० ॥ ३-२-३१॥

अज्ञान उपादान है और उक्त दो कर्म निमित्त हैं। तत्वज्ञान से इन दोनों का नाश हो गया है अतः उपादान तथा निमित्त कारण से रहित प्राणों की उत्क्रान्ति कैसे होगी? अतएव स्थिति भी नहीं हो सकती उपादान का नाश होने पर उपादेय अवश्य नष्ट हो जाता है अन्यथा उपादानोपादेयभाव ही नहीं होगा अतः प्राण का आत्यन्तिक लय होता है, यही सिध्दान्त युक्तियुक्त है॥ ३१॥

(योऽकामोनिष्काम:—०)

इत्यादि श्रुति को जो 'अकाम' बाह्यविषयों से विरक्त 'निष्काम-अनन्तर काम वासना रहित, 'आप्तकाम' जिसे ब्रह्मानन्द प्राप्त हो गया है ऐसा और 'आत्मकाम' सर्वात्मैकदर्शी होता है; उस पुरुष के वाक् आदि प्राण-इन्द्रियां देह से ऊर्ध्व उत्क्रमण नहीं करते यही ब्रह्म ही होकर वह ब्रह्म प्राप्त करता है। उपनिषत् में पुनरुक्त दोष नहीं होता इसलिए फिर लिख दिया है। अब वार्तिक सार से इसी को दिखाते हैं- कामहेतु के त्याग से पुरुष अकाम होता है कामहेतु संकल्प है इसमें महर्षि व्यास वचन प्रमाण है यथा-

संकल्पहेतुः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
काम जानामि ते मूलं सँकल्पात्किल जायते॥
॥ बृ० वा० ॥ ४-४-१२२ ॥

संकल्प का हेतु काम है। कामना की सिद्धि के लिए पुरुष साधनानुष्ठान का संकल्प करता है। तदनन्तर यागादि का अनुष्ठान करता है। फल कामना के भेद से अधिकारी भेद है उसके भेद से तत् तत् हेतु फल अनेक हैं। कामना का संबोधन करके व्यास भगवान् ने स्पष्ट कहा है—
'हे काम तुम्हारा मूल मैं जानता हूं तुम संकल्प से होते हो'॥२२॥

परमानन्दरूपत्वमात्मनश्चेद् विबुध्यते।
कुतः कामयते भोग्यं ततो बोधादकामता॥
॥ बृ० वा० ॥ ४-४-१३० ॥

ब्रह्मविद् जब आत्मा परमानन्दस्वरूप है यह समझ जाता है तब भोग की वह कामना क्यों करेगा ? अतः ब्रह्मबोध से ही पुरुष में अकामता होती है ॥ १३० ॥

योऽकामस्तस्य न प्राणा उत्क्रामन्तीति योजना ॥
संसृतिकामिनो यद्वदकामो मुच्यते तथा ॥
। बृ० वा० ॥ ४-४-१३२ ॥

जो अकाम है उसके प्राण निधन के समय नाड़ियों से नहीं निकलते, किन्तु यहीं लीन हो जाते हैं। संसार पुरुष के प्राण तो तत्तत् फल के भोग के लिए नाड़ियों से ही निकलते हैं अतएव उसी को संसार यानी जन्ममरण बन्धन प्राप्त होता है। अकाम पुरुष मुक्त होता है ॥ १३२ ॥

य ईदृगात्मकामोऽयं प्राप्तकामो भवेत्ततः ।
निष्कामत्वादकामः सन् संसारात् प्रविमुच्यते ॥
॥ बृ० वा० सार ॥ १५३ ॥

इस प्रकार आत्मकाम पुरुष प्राप्तकाम कहा जाता है प्राप्तकाम ही निष्काम होता है उसी से अकाम होकर संसार से विमुक्त होता है ॥ १५३ ॥

योऽकामस्तस्य न प्राणा इति मोक्षं वदन्मुनिः ।
जिघृक्षत्यायसं तप्तं शास्त्राचार्यात्मनिश्चयात् ॥
। बृ० वा० ॥ ४-४-१५५ ।

मुनि के अभिप्राय को स्फुट करते हैं जो अकाम है उसके प्राण नहीं निकलते यह प्रतिज्ञा परोक्ष ब्रह्मज्ञानी के विषय में नहीं है किन्तु 'मनुष्योऽहम्' इस निश्चय के समान अहं ब्रह्म इत्याकारक दृढ निश्चयवान सत्य प्रतिज्ञ तप्त परशु ग्रहण आदि शपथ में समर्थ पुरुष के विषय में है॥

उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य प्राणा अज्ञानबाधनात् ।
नोत्क्रमन्ति न तिष्ठन्ति न च नश्यन्त्यहेतवः ॥
॥ बृ० वा० ॥ ४-४-१५६ ॥

(शंका) ब्रह्मवित् के प्राण अन्य प्राणी के प्राण के समान क्यों नहीं निकलते ? (समाधान)— प्राण निकलने का कारण अज्ञान है, उसका बाध हो चुका अतः 'कारणा भावात् कार्याभावः" इस न्याय से उक्त अर्थ समर्थित होता है। शंका) तब क्या पूर्ववत् शरीर में ही रहते हैं ? (उत्तर) नहीं रहते भी नहीं हैं अन्यथा अनुभव विरोध होगा। (शंका) तो क्या नष्ट हो जाते हैं ? (उत्तर) नहीं नाश कारण के अभाव से नष्ट भी नहीं होते हैं॥ १५६ ॥

रज्जुसर्पो यथा लोके रज्जुतत्त्वावबोधने ।
न गच्छति न चाऽप्यास्ते न च नश्यत्यमी तथा ॥
। बृ० वा० । ४-४-१५७ ।

आत्मा के यथार्थ ज्ञान से अज्ञान का ध्वंस होने पर प्राणों की उत्क्रांति स्थिति और नाश नहीं होता इसमें दृष्टान्त कहते हैं—

हैं— जैसे रज्जुतत्व का अवबोध होने पर रज्जु सर्प नहीं कहा जाता है और न वह उसमें रहता ही है और न नष्ट ही होता हैं, वैसे ही उक्त प्राण को समझना चाहिए। उक्त अर्थ का "अत्रैवस मवनीयन्ते" यह माध्यन्दिन श्रुति समर्थन करती है।

वन्धस्य कल्पितत्वेन तन्मुक्तिरपि कल्पिता।
इत्यभिप्रायमाचष्टे ब्र.ैवत्यादि वाक्यतः ॥
। बृ० वा० । ४-४-१६१ ।

वन्धके कल्पित होने से उससे मुक्ति भी कल्पित है वास्तविक नहीं है इसी अभिप्राय का "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽऽप्नोति" यह माध्यन्दिन श्रुति समर्थन करती है। कण्ठवल्ली में भी "विमुक्तश्च विमुच्यते" इत्यादि वाक्य से यही कहा गया है। (शंका) तो क्या वह मरता ही नहीं? (समाधान)—नहीं, मरता क्यों नहीं? मरता है परन्तु प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता किन्तु प्राणरहित देह मरता है॥ यथा—

प्राणत्यागे न देहोऽयँ म्रियते वाह्यवायुना।
आपूर्णः स्थौल्यमापन्नो निश्चेष्टो दृश्यते यतः ॥
। बृ० वा० । ३-२-२२ ।

प्राणों के त्याग से वर्तमान देह मरता है। मरने के अनन्तर वाह्य वायु से भर जाता है अतएव स्थूल हो जाता है अर्थात् फूल जाता है निश्चेष्ट होने से मरा कहा जाता है यद्यपि वस्तुतः आत्मा मरता नहीं और शरीर अचेतन ही है

तो भी जिस प्राणादि के संयोग से शरीर में कर चरण आदि के व्यापार होते हैं उस प्राणादि का त्याग करने से शरीर तादृश व्यापार शून्य हो जाता है, अतः मरता ही है।

॥ कवित्त नं० ३८ ॥

वेदों का सार ओंकार का निरन्तर ध्यान अभ्यास योग युक्त जिसे अन्त तक गाया है प्राण उर्ध्व गमन से देवयान गति उसे अमानव पुरुष को ब्रह्म से मिलाया है अपरब्रह्म प्राप्त होवे ध्यान का प्रभाव सुनो देह भेदनांतर सोई तृतीय पद पाया है अनावृत्ति शब्द से पुनः आवृत्ति नहीं, रामाश्रम तुरीय पद तूष्णी ही बताया है।

निर्गुण ज्ञान के फल कथन के अनन्तर अपर विद्या में उपासना का ब्रह्मलोकस्थ फलप्राप्ति के लिए देवयान मार्ग की प्रवृत्ति कराने वाले सूत्रधार पहले शास्त्रानुसार उत्क्रान्ति का क्रम कहते हैं विद्वान् और अविद्वान् की उत्क्रान्ति एक सी होती है (अमृतत्वान्) ऐसा आगे कहेंगे।

॥ वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ ब्रह्म सूत्र ४-२-१

अब जिस प्रकार सब इन्द्रियों का मन में लय होता है और मनका प्राण में और प्राणों का जीव में सो श्रुति प्रमाण से सूत्रकार दिखाते हैं। (वाङ्मनसि) अन्तःकरण में वाग्वृत्ति का ही लय होता है क्योंकि व्यवहार में मनकी वृत्ति से विद्यमान रहते ही वाग्वृत्ति का लय देखा जाता है।

॥ अत एव च सर्वाण्यनु ॥ (ब्र० सू० ४-२-२)

उक्त दर्शनादि हेतुओंसे ही सभी चक्षु आदि इन्द्रियां वृत्ति विशिष्ट मन में 'वृत्तिमात्र' के लय से लीन होती हैं स्वरूप से लीन नहीं होतीं ॥ २ ॥

॥ तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ (ब्र० सू० ४-२-३) ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियों की वृत्ति के लय का आधारभूत वह मन भी प्राणों में वृत्ति द्वारा लीन होता है स्वरूपसे लीन नहीं होता, क्योंकि "मनःप्राणे" (छां० ६-८-६) मन प्राणों में ऐसी श्रुति है ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः (ब्र० सू० ४-२-४) ॥

वह प्राणवृत्ति रहित होकर जीव में रहता है किससे ? इससे कि जीव में प्राण का उपगम, अनुगमन और अवस्थान श्रुत है। यथा— एवमेवेमात्मानमन्तकाले०। इसी प्रकार सभी प्राण अन्तःकाल में जीवात्मा में प्रयाण करते यह उपगम है और ('तमुत्क्रामन्तम्') जीव के उत्क्रांत होने पर प्राण भी अनुत्क्राँत होता है यह अनुगमन है और 'सविज्ञानो भवति' यह अवस्थान है इन हेतुओं से प्राण जीव में लीन होता है।

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ (ब्र० सू० ४-२-५) ॥

तेज आदि देहारम्भक पांच भूतों से उपहित जीव में प्राणवृत्ति का लय होता है किससे ? इससे कि देहारम्भक पंच महाभूतों से उपहित जीव में उस प्राणवृत्ति की लय बोधिका (प्राणस्तेजसि) यह श्रुति है ॥

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ (४-२-७)

देवयान मार्ग के उत्क्रमण के पूर्व जो उत्क्रान्ति है वह विद्वान् और अविद्वान् की बराबर हैं क्योंकि (वाङ्मनसि) इस प्रकार सामान्य रूप से कथन है इससे ऐहिक सुख दुःख के समान उत्क्रान्ति भी समान है। सगुण विद्या में अमृतत्व श्रवण की उपपत्ति कैसी होगी? इस पर कहते हैं– 'अमृतत्व चानुपश्य' अर्थात् अविद्या आदि क्लेश समूह का विनाश न करके यह जो अमृतत्व है वह अपेक्षाकृत है॥७॥

अब उस मार्गको कहते हैं जिससे ब्रह्मलोक प्राप्ति होती है—

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छपग-त्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुग्रहीतः शताधिकया ॥

(ब्र० सू० ४-२-१७) ॥

जिसकी वाग् आदि इन्द्रियां लीन हुई हैं ऐसे उत्क्रमण शील जीव का आधारभूत जो हृदय है उसका जो ऊर्ध्व भाग है उसका विकास पहले होता है उस विकास से देवयान आदि मार्ग का प्रकाश विद्वान् और अविद्वान् दोनों को होता है इस परिस्थिति में जो विद्वान् है वह मूर्द्धं स्थान से निकलता है और अविद्वान् अन्य मार्ग से जाता है कारण कि सगुण विद्या की शेष भूत गति के यानी मूर्द्धन्य नाड़ी मार्ग के ध्यान का विधान है यदि अन्य मार्ग से जानेवाले की भी विशिष्ट फल प्राप्ति हो तो विशिष्ट मार्ग चिन्तन के विधान का वैयर्थ्य प्रसक्त

होगा इससे ब्रह्म से अनुगृहीत दीर्घ समय और नैरन्तर्य आदि दृढ़ता से सेवित हार्द ब्रह्म से अनुगृहीत विद्वान् एक सौ एकवीं मूर्धन्य नाड़ी से निष्क्रमण करता है। इसमें यह छां० श्रुति है-

'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति'
(छां० ८-६-६)

हृदय की एक सौ एक नाड़ियां हैं क्योंकि देह की नाड़ियां अनन्त हैं उन में से एक मूर्द्ध स्थान में गई है उसके द्वारा ऊंचा जाता हुवा अमृतत्त्व पाता है, सब भिन्न २ प्रकार की गति वाली अन्य नाड़ियां उत्क्रमण के लिए हैं परन्तु उन मार्गों से जाने वाला अमृतत्व नहीं पाता॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥(गी.८-२४)

वे अर्चि को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन को दिन का देवता प्राप्त होता है इसी प्रकार सभी देवताओं को प्राप्त जान लेना। शुक्ल पक्ष को शुक्ल पक्ष से उत्तरायण को उत्तरायण से संवत्सर को संवत्सर से आदित्य को आदित्य से चन्द्रमा को चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं। वहां एक अमानव पुरुष है वह उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करा देता है यह देवयान मार्ग है। (शंका) फिर तो दिन में मरनेवाला ही किरणावलम्बी होता है रात्रि में मरनेवाला नहीं क्योंकि सूर्य रश्मि का रात्रि में अभाव है ? समाधान—

निशिनेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देह भावत्वाद्दर्शयतिच॥

(ब्र० सू० ४-२-१६)

यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि किरण और नाड़ी का सम्बन्ध दिन और रात्रि दोनों समय में है और इसी अर्थ को श्रुति भी प्रतिपादन करती है :---

"अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषुसृप्ता-
आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्यसृता" ॥

(छां० ८-६-२)

रश्मियां उस आदित्यमण्डल से फैलती हैं और इन नाड़ियों में प्रवेश करती हैं और नाड़ियों से फलतीं हैं वे उस आदित्य में प्रवेश करती हैं) मृत्यु के काल का नियम भी नहीं जो दिन की प्रतीक्षा करे और–

स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति ॥

(छां० ८-६-५)

वह जितने समय में मन की प्रेरणा करता है, उतने ही समय में आदित्य में – पहुँचता है यह श्रुति अप्रतीक्षा दिखलाती है इस लिए अविशेष से ही यह रात और दिन में रश्मि का अनुसरण है ॥१६॥

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ (ब्र. सू. ४-२-२०)

कालान्तर के प्रतिक्षण की अनुपपत्ति होने से और नित्य के समान विद्या का फल सम्बन्ध श्रुति होने से दक्षिणायन में

मृत व्यक्ति भी अवश्य फल प्राप्त करता है उत्तरायण और दक्षिणायन में जो प्राशस्त्य और अप्राशस्त्य है वह अविद्वद्विषयक है, भीष्म ने उत्तरायण की इसलिए प्रतीक्षा की थी कि शिष्टाचार का परिपालन हो और अपने पिता के प्रसाद से जो स्वेच्छामरण का वर प्राप्त था उसकी ख्याति हो ॥२०॥

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥(ब्र.सू.४-२-२१)

दिन आदि काल का जो नियम है वह स्मार्तोपासक के लिए है श्रौतोपासकों के लिए नहीं है कारण कि सांख्य और योग का स्मृति में ही कथन है इसलिए दहरादि उपासना करनेवाले स्मार्त नहीं हो सकते हैं, इससे श्रुति और स्मृति में अर्थ भेद होने से श्रौतोपासनाओं में काल नियम नहीं है अतः सर्वदा अर्थात् किसी भी समय में मृत विद्वान् फल प्राप्त करता ही है कोई मूर्ख ब्रह्मलोक के अनेक मार्ग कहते हैं सो नहीं—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ (ब्र.सू. ४-३-१)

ब्रह्मलोक की अभिलाषा करने वाले सभी अर्चिरादि मार्ग से जाते हैं, क्योंकि पंचाग्नि विद्या के प्रकरण में पंचाग्नि के उपासकों की नाईं सगुण ब्रह्मोपासक के लिए भी अर्चिरादि मार्ग का श्रवण है ॥१॥

अतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ब्र.सू. ४-३-४ ॥

वे अर्चिरादि कार्य ब्रह्म के प्रति जाने वाले के लिए अतिवाहक हैं, क्योंकि—

"अमानव स तान् ब्रह्म गमयति" (छां० ५-८-२)

वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म के प्रति लेजाता है इस प्रकार उपासकों के प्रति गमयितृत्व का श्रवण है । इस प्रकार मार्गका निरूपण करके मन्तव्यस्थान का विचार करते हैं।

कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ४-३-७ ॥

ब्रह्म शब्द का प्रयोग होने से यहाँ संशय हो जाता है कि वह अमानव पुरुष इनको कार्य सगुण ब्रह्म के पास ले जाता है या मुख्य परब्रह्म के प्रति ले जाता है ? ऐसा संशय होने पर उनको अमानव पुरुष कार्य अर्थात् सगुण अपर ब्रह्म में ही ले जाता है, ऐसा वादरि आचार्य मानते हैं । क्योंकि इस कार्य ब्रह्म का गन्तव्यत्व प्राप्तव्यत्व उत्पन्न होता है प्रदेश होने से परन्तु परब्रह्म में गन्तृत्व गन्तव्यत्व या गति की कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि वह सर्वगत है और गमन करने वाले का प्रत्येक आत्मा है ॥ ७ ॥

॥ स्मृतेश्च ॥ ४ ३ ११ ।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसँचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

महा प्रलय प्राप्त होने पर हिरण्यगर्भ का अन्त होने पर वे सब बुद्धि वाले ब्रह्म के साथ परस्थान में प्रवेश करते हैं, यह स्मृति भी इस अर्थ में अपनी सम्मति देती है । इस लिए कार्य ब्रह्म में गति की श्रुति है ऐसा सिद्धान्त है । और दूसरी भी श्रुति है—

तस्याभिध्यानात्तृतीयदेह भेदे० (श्वे०)

उसके ध्यान से (ॐ कारके ध्यान से) तृतीय भाव को यानी सगुण ब्रह्म ईश्वर भाव को प्राप्त होता है। तृतीय ईश्वर कैसे है ? सुन ! विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वर तूर्य को नहीं। कब होता है ? देह त्याग के बाद परन्तु किस पूर्वपक्ष की शङ्का करके (कार्य बादरिरस्य) इत्यादि से इस सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन किया गया है। उसे अब सूत्रों से ही दिखाते हैं—

परं जैमिनि मुख्यत्वात् ॥ (४ ३ १२)

जैमिनि आचार्य मानते हैं कि परब्रह्म ही गन्तव्य रूप से है न कि कार्य ब्रह्म, क्योंकि ब्रह्म शब्द की मुख्य वृत्ति व्यापक परब्रह्म में है ॥ १२ ॥

न च कार्य प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥ (४ ३ १४)

प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये (छां० ८ १४ १)

मैं प्रजापति के सभा घर में जाता हूँ) इस प्राप्ति की अभिसंधि कार्य ब्रह्म विषयक है क्योंकि—

नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म ॥(छां. ८ ११)

(यह आकाश अपने में स्थित जगद्बीज भूत नाम और रूप का निर्माण करता है वे नाम और रूप जिसके भीतर है वह नाम और रूप से विलक्षण ब्रह्म है ऐसे कार्य ब्रह्म से विलक्षण परब्रह्म भी प्रकृत हैं।

"यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्"

(मैं ब्राह्मण में यम–आत्मा हूँ) इस प्रकार सबके आत्मरूप से उपक्रम है क्योंकिः—

"न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः"(श्वे. ४ १६)

ऐसे परब्रह्म ही 'यम' नामसे प्रसिध्द हैं। और यह वेश्म-प्राप्ति गति पूर्वक है ऐसा हृदय विद्या में कहा है।

तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुनिर्मितं हिरण्मयम् ॥
(छां॰ ८ ५ ३)

वह अपराजित नाम की ब्रह्मपुरी है प्रभु से विशेष रूप से निर्मित स्वर्णमय है इसमें यत् धातु भी गत्यर्थक होने से उसको मार्ग की अपेक्षा है ऐसा निश्चय होता है उसलिए गति-श्रुतियां परब्रह्म विषयक हैं, ऐसा पक्षांतर है। वे ये दोनों पक्ष आचार्य ने सूत्रों में दिखलाए हैं, एक गति की उत्पत्ति आदि से और दूसरा मुख्यत्व आदि से उनमें गति की उत्पत्ति आदि आदि मुख्यत्व आदि को आभासरूप से प्रतिपादन करने में शक्तिमान् है परन्तु मुख्यत्व आदि गति की उत्पत्ति आदि को आभासरूप से प्रतिपादन करने में शक्तिमान् नहीं है, इसलिए आद्य को ही सिध्दान्त कहा है और दूसरे को पूर्वपक्ष, क्योंकि संभव न होने पर भी मुख्य अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिए ऐसा कोई आज्ञा करनेवाला प्रमाण विद्यमान नहीं है, पर विद्या के प्रकरण में भी अन्य विद्या के आश्रय में रही हुई गति का जो कीर्तन है वह परविद्या की स्तुति के लिए उपपन्न होता है।

विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ छां० ८ ६ ६ ॥

भिन्न २ गतिवाली अन्य नाड़ियां उत्क्रमण के लिए हैं। इसके समान— "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" इसमें तो पूर्व वाक्य से विच्छेद करके कार्य ब्रह्म में भी प्राप्ति की अभिसंधि विरुद्ध नहीं होती। सगुण ब्रह्म में भी वह सब का आत्मा है ऐसा कीर्तन है— सर्व कर्मा सर्व कामः) इत्यादि के समान सङ्गत होता है इस लिए गति श्रुतियां अपर ब्रह्म को ही विषय करती हैं ऐसा सिद्ध हुआ कुछ लोग तो ऐसी व्याख्या करते हैं कि पूर्व सूत्र पूर्व पक्ष सूत्र है और उत्तर सूत्र सिद्धान्त सूत्र है ऐसी व्याख्या के भरोसे पर गति श्रुतियां पर ब्रह्म विषयक हैं ऐसा प्रतिष्ठापन करते हैं परन्तु यह सङ्गत नहीं है कारण कि—

'आकाश वत्सर्वगतश्चनित्य, 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः (बृ०) आत्मवेदं सर्वम् (छां०) ब्रह्मवेदं विश्वमिदँ वरिष्ठम् (मु०)

इत्यादि श्रुतियों से जिस ब्रह्म का सर्व गतत्व रूप से सर्वान्तरत्व रूप से और सर्वात्म रूप से विशेष निर्धारण किया गया हो उसमें गन्तव्यता की कभी भी उपपत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि जो प्राप्त है ही वह प्राप्य नहीं कहा जा सकता और लोक में यह है कि अन्य अन्य के प्रति जाता है। (शङ्का) लोक में जो प्राप्त है उसमें भी अन्य देश के योग से गन्तव्यता देखी जाती है जैसे पृथ्वी में रमा हुआ ही अन्य देश द्वारा

पृथ्वी के प्रति वह जाता है, उसी प्रकार बालक के अनन्य होने पर भी अन्य काल से विशिष्ट स्वात्मभूत ही वार्धक्य के प्रति वह जाता है वैसे ही सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त होने के कारण ब्रह्म भी किसी प्रकार गन्तव्य हो सकता है ? (समाधान) नहीं, नहीं हो सकता क्योंकि सब विशेषों का ब्रह्म में प्रतिषेध है-

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् (श्वे० ६-१६) अस्थूलमनणवमदीर्घम्, स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म, स एष नेति नेत्यात्मा (बृ० २-६-२६) ॥

इत्यादि श्रुति स्मृति और अनुकूल तर्कों से परमात्मा में देशकाल आदि के विशेष योग की कल्पना नहीं कर सकते हैं जिससे कि (भू) प्रदेश और वय: अवस्था के दृष्टान्त से इसमें गन्तव्यता की उपपत्ति की जाय भू पृथ्वी और वय: अवस्था में तो प्रदेश अवस्था आदि के विशेष योग से देश काल से विशिष्ट गन्तव्यता की उपपत्ति हो सकती है। परन्तु जगत् की उत्पत्ति स्थिति और विध्वस्ति बोधक श्रुति से ब्रह्म में अनेक शक्तिमत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस लिए उक्त व्यवस्था हो सकती है ? यदि इस प्रकार शंका की जाय तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि विशेषता की निवारि का श्रुतियां अनन्यार्थक हैं अर्थात् स्वार्थ के प्रतिपादन में मुख्य हैं। यदि शंका हो कि उत्पत्ति आदि के बोधक श्रुति वाक्यों की भी अनन्यार्थकता समान तो वह भी ठीक नहीं है,क्योंकि वे श्रुतियां एकत्व का

ही प्रतिपादन करता है। मृत्तिका आदि के दृष्टान्तों से सत्त्व रूप अद्वितीय ब्रह्म के सत्यत्व का और विकार के अनृतत्व का असत्यत्व का प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र उत्पत्ति आदि का बोधक कदापि नहीं हो सकता है परन्तु यह किस प्रकार समझा जाता है कि उत्पत्ति आदि प्रतिपादिका श्रुतियां विशेष निराकरण श्रुतियों की अंग हैं और विशेष निराकरण श्रुतियां उत्पत्ति प्रतिपादक श्रुतियों की अंग नहीं हैं। कहते हैं –विशेष के निराकरण के लिए जो श्रुतियाँ प्रवृत्त हैं वे निराकांक्षार्थक हैं क्योंकि आत्मा में एकत्व नित्यत्व और शुध्दत्व आदि धर्मों की अवगति होने पर फिर आकांक्षा उत्पन्न होती है कारण कि–

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः (ई. ७)
'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि, (बृ० ४-२-४)
विद्वान्न बिभेति कुतश्चना एतं ह वाव न तपति किमहँ साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्। (तै० २-६-१)

इत्यादि श्रुतियों से पुरुषार्थ पुरुष को अभीष्ट वस्तु की समाप्ति विषयक बुध्दि उत्पन्न होती है। उसी प्रकार विज्ञानी को संतोष का अनुभव देखा जाता है और विकार एवं अनृत के अभसंधान का अपवाद भी किया गया है क्योंकि–

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति)

इत्यादि श्रुति है इसलिए विशेष निराकरणार्थ जो श्रुतियां हैं उनका अन्य शेषत्व कल्पित नहीं हो सकता है इसी प्रकार

उत्पत्यादि श्रुतियां निराकांक्ष अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती हैं क्योंकि उनका अन्यार्थत्व प्रत्यक्ष ही है जैसे कि—

'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सौम्य विजानीहि नेदममूल भविष्यति' ॥ छां० ६-८-३ ॥

इस प्रकार उपक्रम करके अन्त में सद्रूप एकही जगत् का मूल विज्ञेय रूप से कहा गया है। और—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ।तै.३-१-१।

इस प्रणाली से उत्पत्तिबोधक श्रुतियों का एकात्मक अवगम ही प्रयोजन होने से ब्रह्म में अनेक शक्ति का योग नहीं हो सकता है इसलिए परब्रह्म में गन्तव्य की उपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।
॥ बृ० ४-४-६ ॥

इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म में गति का निवारण करती हैं। उसका (कवित्त नं० ३७ में) "स्पष्टोह्येकेषाम्" ब्र० सू० ४-२-१३) इस सूत्र में पीछे व्याख्यान किया जा चुका है। गति की यदि कल्पना की जाय तो गमन करनेवाला जीव गन्तव्य ब्रह्म का अवयव होगा या विकार होगा अथवा उससे अन्य होगा क्योंकि अत्यन्त तादात्म्य यदि मानोगे तो गमन की उपपत्ति नहीं होगी, यदि ऐसा हो तो क्या होगा? कहते हैं— यदि जीव

ब्रह्म का एक देश हो तो उससे एक देशी के नित्य प्राप्त होनेसे पुनः ब्रह्म में उपपन्न गमन नहीं होगा और एक देशत्व और एक देशित्व की कल्पना भी ब्रह्म में विरुद्ध है, क्योंकि ब्रह्म का निरवयवत्व प्रसिद्ध है, विकार पक्ष में भी यह अनुपपत्ति समान है का ण कि ि कार से विकारी नित्य प्राप्त है । घट-मृदात्मता को छोड़ कर नहीं ठहर सकता है यदि मृदात्मता का परित्याग करेगा तो अभाव की प्रसक्ति होगी। विकार पक्ष में और अवयव पक्ष में विकारी और अवयवी ब्रह्म के स्थिर होने से संसार का गमन भी असम्भव है। अब यदि जीव को ब्रह्म से अन्य मानते हैं तो वह अणु व्यापी अथवा मध्यम परिमाण वाला हो सकता है। व्यापी होने पर गमन अनुपपन्न है मध्यम परिमाण वाला माना जाय तो अनित्यत्वका प्रसंग होगा। अणु-मानने पर सम्पूर्ण शरीर वृत्ति वेदना की अनुपपत्ति होगी, अणुत्व का और मध्यम परिमाणत्व का ब्रह्म सूत्र में सविस्तार निराकरण किया गया है। यदि ईश्वर से जीव अन्य माना जाय तो 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्र के बाध का प्रसंग होगा और यह दोष तो विकार अवयव में भी समान है और इन सभी पक्षों में अनिर्मोक्ष प्रसक्ति तो है ही, क्योंकि संसारी आत्मा की निवृत्ति नहीं होगी अथवा निवृत्ति होने पर स्वरूप नाश प्राप्त होगा, क्योंकि ब्रह्मात्मता का स्वीकार नहीं है और कुछ लोग कहते हैं- नित्य कर्मों का और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति के लिए किया जाता है,

काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों का परित्याग स्वर्ग और नरक की प्राप्ति के परिहार के लिए है और वर्तमान देह में उपभोग जो कर्म है उसका उपभोग से ही क्षय होगा, इस लिए वर्तमान शरीर के बाद अन्य देह के सम्पादक कारण के न होने से स्वरूपावस्थान रूप कैवल्य ब्रह्मात्मता के बिना ही उस पुरुष को प्राप्त होगा। यह कथन असत्य है क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है कारण कि:—

न ह्येतच्छास्त्रेण केनचित् प्रतिपादितं मोक्षार्थीत्थंसमाचरेत्

'मोक्षार्थी को ऐसा आचरण करना चाहिए' ऐसा किसी शास्त्र ने प्रतिपादन नहीं किया है। परन्तु संसारके कर्म निमित्तक होने से निमित्त के अभाव से संसार नहीं होगा ऐसा स्वबुद्धि से तर्क किया है और उस प्रकार तर्क भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि निमित्तका अभाव दुर्ज्ञेय है। एक २ प्राणी के अन्य २ जन्ममें संचित हुए इष्ट और अनिष्ट विपाकवाले अनेक कर्म सम्भवितहैं उन कर्मोंका जिनका फल अत्यन्त विरुद्ध है एक काल में उपभोग नहीं हो सकने से जिनको अवसर मिल है ऐसे कुछ कर्म इस जन्म को बनाते हैं और अवशिष्ट कर्म देश काल और निमित्त की अपेक्षा करते रहते हैं इसलिए उन अवशिष्ट कर्मों का वर्तमान उपभोग से क्षय न होने से पूर्वोक्त रीति से जिसके चरित का वर्णन किया है उसको वर्तमान शरीर के नाश होने परभी अन्य देशके निमित्तका अभाव निश्चित नहीं हो सकता,कर्म शेषके सद्भाव की सिद्धि तो इस श्रुतिसे होती है—

(तद्य इह रमणीयचरणाः० ततः शेषेण०)

इस लिए जो यहां रमणीय (अच्छे) आचरण वाले हैं 'ततः शेषेण' (पीछे शेष से) इत्यादि श्रुति और स्मृति से सिद्ध हुआ है। (शङ्का) नित्य और नैमित्तिक कर्म उसके नाशक हो सकते हैं ? (समाधान) नहीं यह युक्त नहीं है क्योंकि उनका विरोध नहीं है, विरोध के होने पर ही नाश्य नाशक भाव माना जाता है और अन्य जन्म में संचित कर्मों का सुकृतों का नित्य और नैमित्तिक से विरोध नहीं है, क्योंकि शुद्ध स्वरूपत्व दोनों में समान हैं दुरितों की अशुद्धि रूपता होने से विरोध होने के कारण भले ही विनाश हो, परन्तु इससे अन्य देह के निमित्त का अभाव सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि सुकृत निमित्त हो इस प्रकार युक्त है और दुरित का भी सर्वथा निषेध विनाश ज्ञात नहीं होता है। इस प्रकार नित्य और नैमित्तिक के अनुष्ठान से प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति होती है और अन्य फल की उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि आपस्तम्ब कहते हैं—

तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्यते एवं धर्मं चर्यमाणमथा अनुत्पद्यन्ते' इति ।

इत्यादि प्रमाण हैं और सम्यक् ज्ञान जब तक न हों तब तक जन्म और मरण के बीच में काम्य और प्रतिषिद्ध के त्याग की कोई भी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता, क्योंकि बड़े २ बुद्धिमान् निपुणों का भी सूक्ष्म अपराध देखने में आता है, यद्यपि संशय

हो सकता है तो भी निमित्ताभाव का ज्ञान तो दूर ही है। इस प्रकार ज्ञा से गम्य ब्रह्मात्मत्वका स्वीकार न किया जायतो कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभाव वाली आत्मा के कैवल्य आकांक्षा ही नहीं होगी क्योंकि अग्नि के औष्ण्य के समान स्वभाव अपरिहार्य्य है और भी शंका है—कर्तृत्व भोक्तृत्व का कार्य अनर्थ है उसकी शक्ति अनर्थ नहीं है। इसलिए शक्ति के स्थित होने पर भी कार्य का परिहार होने से मोक्ष उपपन्न हो सकता है ? यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि शक्तिके सद्भाव होनेपर कार्यके प्रसव का निराकरण नहीं हो सकता। एक और भी शंका हो सकती है कि केवल शक्ति अन्य कारणों की अपेक्षा न करके कार्य का आरम्भ नहीं कर सकती है, इससे वह अकेली स्थित है तो भी अपराध नहीं करती ? परन्तु यह भी युक्त नहीं है क्योंकि निमित्त भी शक्तिरूप सम्बन्ध के साथ नित्य सम्बद्ध है, इस लिए कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभाव हने से आत्मा में जब तक विद्यागम्य ब्रह्मात्मत्व न हो तब तक किसी प्रकार मोक्ष की आशा नहीं करनी चाहिए और श्रुतिः—

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे॰ ३-८)

इस प्रकार श्रुति भी ज्ञानातिरिक्त मोक्षमार्ग का प्रतिषेध करती है। (शंका) ईश्वर से जीव अनन्य है इस पक्ष में भी सर्व व्यवहार के लोप का प्रसंग होगा क्योंकि उस पक्ष में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की उसमें प्रवृत्ति नहीं होती है ? नहीं यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि प्रबोध के में स्वप्न आदि के समान व्यवहार उपपन्न हो सकता है। श्रुतिः—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति०।

(बृ० २-४-१४)

इत्यादि शास्त्र अप्रबुद्ध विषय में प्रत्यक्षादि व्यवहार को कह कर फिर प्रबुद्धावस्था में—

यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केन कं पश्येत्०

(बृ० २-४-१४)

इत्यादि से उसके अभाव को दिखलाती है। उक्तरीति से परब्रह्म ज्ञानी के गन्तव्यत्व आदि विज्ञान का बाध होने से किसी प्रकार गति की उपपत्ति नहीं कर सकते हैं । तब गति श्रुतियां किस को विषय करती हैं ? कहते हैं—सगुण विद्या को विषय करेगी। किससे ? इससे उसे देखिये—कहीं पंचाग्नि विद्या का उपक्रम करके गति कही जाती है, तो कहीं पर्यङ्क विद्या का और कहीं वैश्वानर विद्या का उपक्रम करके गति कही जाती है और जहां परब्रह्मका उपक्रम करके गति कही जाती है-जैसे—

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खंब्रह्म० (छां० ४-१-५) इति ॥

अथ यदिदमस्मिन्-ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म० ।

(छां० ८-१-१)

इत्यादि वहां पर भी वामनीत्व सत्य कामत्व आदि गुण के द्वारा सगुण ब्रह्मही उपास्य है,अतः गति सम्भव है और जैसे—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति० (बृ० ४-४-६)

इस प्रकार गति का प्रतिषेध सुनाया गया है और—

ब्रह्म विदाप्नोति परमं० (तै० २-१-१)

इत्यादि में यद्यपि गत्यर्थक 'आप्' धातु है तथापि पूर्वोक्त न्याय से अन्य देश की प्राप्ति का असम्भव होने से अविद्या से अध्यारोपित नाम-रूप के प्रविलय की अपेक्षा—

ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति० (बृ. ४-४-७)

इत्यादि के समान स्वरूप प्राप्ति का ही अभिधान है ऐसा समझना चाहिये। (शंका) परब्रह्म में गति का व्याख्यान किया जाय तो वह प्ररोचन के लिए होगी अथवा अनुचिन्तन के लिए होगी? उसमें परतत्त्व के अभिज्ञ पुरुष में गति की उक्ति से प्ररोचन नहीं किया जाता है क्योंकि वह तो स्वसंवेद्य विद्या समर्पित स्वर्थ्य से ही सिद्ध है। नित्य सिद्ध निःश्रेय—सक जिसमें निवेदन है और साध्य जिसका फल नहीं है ऐसे विज्ञान की गति के अनुचिन्तन में कोई अपेक्षा नहीं होती। इस से गति अपर ब्रह्म विषयक है उसमें पर और अपर ब्रह्म के परस्पर विवेक का अवधारण न होने से अपर ब्रह्म में वर्तमान गति श्रुतियां परब्रह्म में अध्यारोपित होती हैं। पर और अपर ब्रह्म रूप क्या दो ब्रह्म हैं? हां दो ब्रह्म हैं क्योंकि—

एतद् वै सत्यकाम परं चापरँ च ब्रह्म यदोंकारः०

॥ प्र. ५-२ ॥

इत्यादि श्रुतियों में दो प्रकार के ब्रह्म देखे जाते हैं। अच्छा तो परंब्रह्म किसे कहते हैं? कहा जाता है—जहां अविद्या प्रयुक्त नाम और रूप आदि विशेष के प्रतिषेध से

चाहे ब्रह्म लोक में गए हुओं की इमम् मानवम् इत्यादि श्रुति के अनुसार पुनरावृत्ति नहीं होती, पर इसमें "मम" इस विशेषण से इस कल्प में ब्रह्मलोक में गए हुओं की दूसरे कल्प में आवृत्ति दीखती है (ऐसा कह सकते हैं) तो भी यह नियम (कल्पान्तर में पुनरावृत्ति वाला) उन्हीं मनुष्यों के लिए लागू है जो ब्रह्म की (ओंकार) की उपासना विना केवल-पंचाग्नि विद्या, अश्वमेध, दृढ ब्रह्मचर्य आदि साधनों से ब्रह्मलोक में जाते हैं क्योंकि उनको तत्त्वका ज्ञान न होनेसे आवृत्ति होती है।

सम्यक् दर्शन से जिसका तम अज्ञान विध्वस्त हो गया है और नित्यसिद्ध निर्वाण में जो निमग्न है उसकी अनावृत्ति तो सिद्ध है ही और जो सगुण विद्या की शरण में है उनकी भी सम्यग् दर्शन आश्रय से अनावृत्ति की सिद्धि होती है।

॥ कवित्त नं० ३६ ॥

प्राणान्तबाद शरीर ज्ञानी का जलाओ मत यति को दाह करना अनुचित कहाया है। ज्ञानाग्निसे शरीर जिसने पहले ही दग्ध किया दग्ध को दग्ध करना कहीं नहीं पाया है। दिशाओं में बलि देओ चाहे खनन किता करो गङ्गा यमुनादि शुभ नदी में बहाया है। तिलोदक पिण्ड क्रिया पार्वणादि कर्म नहीं रामाश्रम तुरीय पद तूष्णी ही बताया है॥ इति समाप्तंम्॥

श्रुतिः—तत्पश्चाद्दिग्बलिं कुर्यादथवाखननं चरेत् ।
पुंसः प्रव्रजनं प्रोक्तं नेतराय कदाचन ॥ पैं० ॥ ४-५ ॥
दग्धस्य दहनं नस्ति पक्वस्य पचनं न च क्रिया ।
ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न च श्राद्धं न च क्रिया ॥
नाशौचं नाग्निकार्यं च न पिण्डं नोदकं क्रिया ।
न कुर्यात्पार्वणादीनि ब्रह्मभूताय भिक्षवे ॥
॥ पैंगलोप० ॥ ६-७ ॥

शरीर शांत होने के पश्चात् स्थूल देह की चारों दिशाओं में बलि दे देवे या खनन क्रिया करा देवे अथवा गंगा आदि श्रेष्ठ नदी में डाल दे यह सन्यासी की क्रिया है इतर की नहीं ॥ जिस प्रकार जले हुए का जलाना और पक्व का पकाना नहीं है इसी प्रकार ज्ञान से दग्ध हो गया है शरीर जिसका ऐसे संन्यासी की दाह क्रिया और श्राद्धादि नहीं होते । ब्रह्मभूत सन्यासी के लिये और मृतक कार्य, अग्नि कार्य, पिण्ड, दान तर्पण और पार्वणादि श्राद्ध नहीं करे ।

रामाश्रमणात्रसु तत्त्ववादिनां मौनामृतंबिन्दु सुखात्म-निर्मितम् पठन्ति वा पाठकरा भवन्ति हि प्रज्ञाग्रतः सन्ति हि निश्चितं नराः ॥

श्री श्रीरामाश्रमः स्वामी तुरीयपदमास्थितः ।
मुमुक्षूणां हितार्थाय पुस्तकं कृतवान् बुधः ॥

साधन चतुष्टययुक्तानाम् नराणाम् मोक्षसाधनम् ।
अधिकारोऽत्र तेषां वै नान्येषां मृत्युजन्मानां ॥
राजभार्याधनाशानां पुत्रपौत्रादिबन्धनैः ।
सुखदुःखादि बन्धूनाँ नाधिकारोऽस्ति पुस्तके ॥
यथा ब्रह्माण्डसर्वस्वं पिण्डे पिण्डे निरूपितम् ।
तथा सिद्धान्तसर्वस्वं कारिकासु निरूपितम् ॥
मौनामृतमिदंनाम यथा नाम तथा गुणः ।
विलोक्य सर्वशास्त्राणि तदा निर्मितवान्यतिः ॥
मौनामृते नास्तिविवादवादौ न संशयो जन्मजरादिदुःखम् ।
जाग्रन्न स्वप्नं न सुषुप्तिजं सुखम् न मृत्युगर्भादिभयं समस्तम् ॥
सप्ताभ्रशून्ये द्विशुभे सुवत्सरे भौमे तिथौ लद मणरामजन्मनि ।
चैत्रे कुरौ रामहृदे सुतीर्थे मौनामृतं लेखयितं मयेदम् ॥

* समाप्तम् *